नीलेश्वरी

जिज्ञासुओं का संघम्

सितम्बर, १९९९

हम अपने लक्ष्य और संकल्प में एक हों।
हम अपने हृदय और समझ में एक हों।
हममें पूर्ण एकता हो।

सम्पादकीय ❀ *स्वामी माधवानन्द*—यह सभी धर्मों केपरे है। इसमें केवल दो ही बातें हैं—आत्मा और मानवता। २

सिद्धं शरणं गच्छामि ❀ *बाबा मुक्तानन्द*—नदी के जल की शीतलता का आनन्द चाहिए! डुबकी लगाओ। ४

वसुधैव कुटुम्बकम् ❀ जहाँ भक्तों की उज्जवल मुस्कान तथा स्वागतभरे हृदय भगवान केप्रेम का अनुभव कराते हैं। ६

और गठरी खुल गयी ❀ *संज्ञा मिश्रा*—मैंने अपने प्रारब्ध का एक अंश भोग लिया। मैं मुक्त हो गयी। ११

बोल-अनमोल ❀ *बाबा मुक्तानन्द*—दिव्य भगवद् विधान के अनुसार हम सभी एक बार फिर साथ-साथ आये हैं। १४

कौन हैं ये साथी? ❀ *जलालुद्दीन रूमी*—जब स्याही कलम के साथ जुड़ जाती है, तो कोरा कागज़ कुछ कहने लगता है। १८

एक अलौकिक संसर्ग ❀ गुरुमाई चिद्विलासानन्द—अदृश्य को देखने के लिए, अश्रुत को सुनने के लिए, सत्य की संगति करो। १९

अन्तर्जिज्ञासुओं की समष्टि ❀ *प्रह्लाद चौधरी*—हर कोई कुछ न कुछ खोज रहा है। क्या है इस खोज का लक्ष्य? २६

सत्संग की महिमा ❀ *पौराणिक कथा*—सत्संग में बैठे हैं, इस उधेड़बुन में कि विमान क्यों नहीं आया! ३०

स्वर्णिम मन, स्वर्णिम जीवन ❀ शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में नववर्ष सन्देश। ३२

शिक्षाओं का मेला ❀ *युवा पृष्ठ*—शिक्षाएँ, श्रीगुरु व शिष्य के बीच का सेतु। ३३

दैनिक चिन्तन ❀ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह वह बोध है कि समस्त विश्व ईश्वर का कुटुम्ब है। ३६

अन्तर्दृष्टियों का स्रोत ❀ *आश्रम समाचार*—सबकुछ बदल गया — जीवन और प्राथमिकताएँ। ४०

❀ ❀ ❀

गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी, जि. थाना के लिए मानद सहसचिव टी. यू. खत्री, गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी-४०१ २०६ द्वारा प्रकाशित तथा वकील एण्ड सन्स लिमिटेड, मुम्बई-४०० ००१ में मुद्रित। सम्पादक **स्वामी माधवानन्द**। वार्षिक शुल्क: भारत में ७० रुपये, विदेश में ३५ अमरीकी डॉलर।

कॉपीराइट © १९९९, गुरुदेव सिद्धपीठ। सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पुस्तिका का कोई भी अंश किसी भी रूप में छापने या प्रयोग में लाने के लिए प्रकाशन विभाग, गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी, जि. थाना, महाराष्ट्र—४०१ २०६ से लिखित पूर्व अनुमति अति आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमरिका, यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा अनेक देशों में **(स्वामी) चिद्विलासानन्द, गुरुमाई, (स्वामी) मुक्तानन्द, सिद्धयोग** तथा **सिद्ध ध्यान** रजिस्टर्ड सर्विस मार्क हैं।

भगवान नित्यानन्द

गुरुमाई चिद्विलासानन्द

बाबा मुक्तानन्द

पृषंध्रे मेध्यें मातरिश्वनीन्द्रं सुवाले अमंन्दथाः।
यथा सोमं दशशिप्रे दशोंण्ये स्यूमंरश्मावृजूंनसि॥
वयं घां ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपिं ष्मसि।
नहि त्वदन्यः पुंरुहूत कश्चन मघवन्नस्तिं मर्डिता॥

हे देदीप्यमान आत्मा!
आप उन सभी मुमुक्षुओं के सामीप्य से आनन्दित हैं,
जो आध्यात्मिक आह्लाद से परिपूर्ण हैं,
ब्रह्माण्डीय वायु के समान स्फूर्तिमान और शक्तिशाली हैं,
प्रसन्नता के मूर्तिमन्त स्वरूप हैं,
अपने आश्रितों के सहायक हैं, और
सूर्य की रश्मियों के समान देदीप्यमान एवं निष्कपट हैं।

हे देदीप्यमान आत्मा!
हम वस्तुतः आपके ही हैं।
इसीलिए हम सभी उपासकों के आप ही परम आश्रय हैं।
आपके अतिरिक्त अन्य कोई कृपा करनेवाला नहीं है।
हे उदारता की दिव्यमूर्ति,
हम सभी आपका आह्वान करते हैं।

— '**ऋग्वेद**' से

जिज्ञासुओं का संघम्

संघ अलग-अलग प्रकार के हैं। बचपन तथा युवावस्था में मैं कुछ संघों का सदस्य था। एक संघ राजनीति से सम्बन्धित था, दूसरा एक समाज-विशेष का संघ था। एक की प्रेरक शक्ति थी प्रतिस्पर्धा और दूसरे का उद्देश्य था, असुरक्षा की भावना को टालने का प्रयत्न।

इस प्रकार के विभिन्न सीमित व संकुचित उद्देश्यों से मनुष्य अनेक संघों की रचना करता है; इन्हीं की दीवारों के बीच स्वयं को जोशीला पाता है या सुरक्षित मानता है। और वह तब तक यह मानता है, जब तक किसी परिस्थिति विशेष के कारण उसकी इस समझ का भण्डा न फूट जाये।

हम इस अंक में अन्य प्रकार के संघ की चर्चा कर रहे हैं जो हमें संकुचित रखनेवाली अनेक प्रकार की दीवारों को तोड़ कर हमारे मूल स्वरूप को पहचानने में महान सहायक है। हम भगवत्भक्तों के, गुरुभक्तों के, संघ की चर्चा कर रहे हैं; उनके स्वयं प्रकाशित सत्संग की बातें कर रहे हैं। हाँ, इस संघ के सदस्य भी संरक्षण का अनुभव करते हैं, उसका संरक्षण जो मृत्यु का भी अधिपति है— भगवान। उसका संरक्षण जो प्राणीमात्र के लिए करुणा की नदियों को बहाता रहता है—श्रीगुरु।

इस संघ में सभी सदस्य एक समान हैं। गुरुपूर्णिमा के पर्व पर एक दिन मैं गुरुचौक में बैठा था। मृत्युञ्जय महादेव के अमोघ मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' का अखण्ड नाम-सप्ताह चल रहा था। तभी महाराष्ट्र के कुछ ग्रामीण यात्रीगण आये। उनमें एक काफी वृद्ध थे। हॉल मॉनीटर ने हरेक को कम्बल दे कर बहुत आदर से बिठाया। वृद्ध इस सम्मान से बहुत अभिभूत हुए। सब बहुत शिस्त एवं शान्ति से बैठ गये। वृद्ध के बगल में एक मध्य वयस्क बैठे थे। यद्यपि वे दीखने में हृष्ट-पृष्ठ थे, तथापि उनके बाल और मूँछ सफेद थीं कुछ ही क्षण बीते होंगे कि उनकी आँखों से ऐसे आँसू बह निकले जैसे मानसून के दिनों में हरे-भरे मन्दाग्नि पर्वत पर दूर तक चमकनेवाली झरनों की धाराएँ बह निकलती हैं। वे तौलिये से अपने आँसुओं को पोंछ रहे थे। शायद वे लोग दस मिनट ही बैठे होंगे और उठ कर चलने लगे। कम्बल वापस करते हुए बहुत नम्रता व आदर से हॉल

मॉनीटर को नमस्कार के साथ धन्यवाद दे रहे थे। यह सब देखते हुए मेरा हृदय द्रवित हो रहा था। भक्तों की संगति की जय हो।

गुरुमाईजी इस अंक में अपने लेख में कहती हैं, *"अनेकों बार सत्संग के समय कुछ ऐसा अद्वितीय घटता है जिसकी तुमने कल्पना भी नहीं की होती है।...बाह्य जगत में शान्ति को खोजने से वह तुम्हें नहीं मिलेगी, किन्तु जिस क्षण तुम अन्तर की ओर मुड़ जाओगे, वह तुम्हें मिल जायेगी।"*

ऐसी घटनाएँ हर सिद्धयोग ध्यान केन्द्र में घटती रहती हैं। इस अंक में सिद्धयोग ध्यान केन्द्र, कलकत्ता के भक्तों के अनुभव व विचार पढ़ कर लगता है कि चलो हम भी उनकी तरह अपने संकल्प को फिर से करुणापूर्ण प्रेरणा से भिगो दें। कलकत्ता की एक भक्त कहती हैं, 'अब मेरी इच्छा है कि मैं अधिक से अधिक लोगों का सिद्धयोग ध्यान में स्वागत करूँ, जिससे वे भी गुरुकृपा के अमृत का पान कर सकें और श्रीगुरुमाई के मिशन व बाबाजी के स्वप्न—"मैं इस विश्व को सन्तों से भरा देखना चाहता हूँ", में अपना योगदान दे सकूँ।'

प्रह्लाद चौधरी के लेख में अपनी इन्द्रियों को जिज्ञासुओं के संघ के रूप में देखने का विचार मौलिक है। मुझे तो इस लेख ने अपनी कर्मेन्द्रियों के बारे में, बुद्धि, चित्त, अहंकार के बारे में, एक इकाई के रूप, इस शरीर के बारे में, और अधिक व अनोखे चिन्तन करने को प्रेरित किया है।

युवा पृष्ठ पर ज्योति अग्रवाल के अनुभव में उन्होंने 'वास्तव में सुनना क्या होता है?' इस प्रश्न की जो चर्चा की है, वह बड़ों को भी लाभदायक रहेगी। एक दूसरे को सुन नहीं पाना ही संघ में विषमता पैदा करता है।

इस अंक के लेखों के सम्पूर्ण चक्र की धुरी है बाबाजी का, *"सिद्धं शरणं गच्छामि"*। वे कहते हैं, *"हम सब एक समान हैं। सिद्धयोग किसी धर्म विशेष का नहीं है, सभी धर्मों से परे है।... इसमें मात्र दो ही बातें हैं—आत्मा और मानवता।"*

इति शिवम्।

—स्वामी माधवानन्द

सिद्धं शरणं गच्छामि

बाबा मुक्तानन्द

सिद्धयोग का मुख्य उद्देश्य इस शाश्वत ज्ञान में स्थिर रहना है कि सभी देश, जातियाँ, धर्म, सम्प्रदाय, श्रेणियाँ और मनुष्य एक हैं। अन्य लोगों की समझ इससे भिन्न हो सकती हैं पर तुम्हें अपने लक्ष्य का स्मरण रहना चाहिए। अन्य लोग जब कहते हैं, 'मुझे नहीं लगता कि हम सब बराबर हैं' तो तुम्हें इससे कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। तुम्हें यह जानना ही चाहिए कि हम सब एक समान हैं।

तुम्हें इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि सिद्धयोग किसी धर्म विशेष का नहीं है, यह सभी धर्मों के परे है। जिस प्रकार ईश्वर किसी धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग या देश विशेष का नहीं है, उसी प्रकार सिद्धयोग भी इन सबसे रहित है। सिद्धयोग में मात्र दो ही बातें हैं : आत्मा और मानवता।

तुम्हें इस बात का भी सतत बोध रखना चाहिए कि यह संसार मात्र संसार नहीं है—यह चिति है और चिति के अतिरिक्त कुछ नहीं। ऐसी दशा में तुम कैसे कह सकते हो कि यह ऊचाँ है और वह नीचा? या यह अच्छा है और वह बुरा? किस वस्तु को तुम यह कह कर ठुकरा सकते हो कि मैं यह नहीं हूँ। इसी प्रकार किस वस्तु को तुम यह कह कर अपना सकते हो कि मैं यह हूँ। यह विश्व तुमसे भिन्न नहीं है।

इस विश्व की उत्पत्ति सिद्धों से हुई है जो पूर्ण थे। जो सिद्धयोग का अनुसरण करता है वह सिद्ध विद्यार्थी है, सिद्धयोगी है, सिद्धसंघ का सदस्य है। परन्तु वास्तव में इस योग का पालन करने के लिए तुम्हें इसमें दृढ़ता के साथ स्थिर होना चाहिए। क्या तुम नदी के किनारे बैठ कर उसके जल की शीतलता का अनुभव कर सकते हो? नहीं! पानी का आनन्द लेने के लिए तुम्हें उसमें डुबकी लगानी ही होगी। इसी प्रकार सिद्धयोग के लक्ष्य का अनुभव प्राप्त करने के लिए तुम्हें इसका पूरा-पूरा पालन करना पड़ेगा।

सर्वप्रथम अपनी आत्मा पर पूर्ण श्रद्धा रखने की, अपनी ही आत्मा में शरण लेने की, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहो। तुम्हें *सिद्धं शरणं गच्छामि,* 'मैं सिद्ध की शरण में हूँ' के प्रति भी सजगता बनाये रखनी चाहिये। क्योंकि जब तुम पूरी तरह से एक सिद्ध की शरण में जाते हो तभी तुम शक्ति को, सिद्ध परम्परा की शक्ति को, प्राप्त कर सकते हो।

गीता में भगवान कहते हैं, *"हे अर्जुन, सब प्रकार से मेरी शरण में आ जाओ। हर प्रकार से मुझको समर्पित हो जाओ।"* गीता के इस श्लोक की व्याख्या करते हुए महान सिद्ध ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि नदियाँ सागर में विलीन हो जाती हैं, वे सागर को समर्पित हो जाती हैं और जब वे इस प्रकार आत्म समर्पण कर देती हैं तो उनका अलग अस्तित्व नहीं रहता। नदी महासागर बन जाती है। उसी प्रकार अर्जुन मुझमें पूर्ण समर्पण कर दो।

जिस प्रकार नदी अपने आपको समुद्र को समर्पित करके विशाल महासागर बन जाती है उसी प्रकार जब तुम एक सिद्ध को समर्पित हो जाते हो, उनकी शरण में आ जाते हो, तो तुम सिद्ध ही बन जाते हो। इसीलिए जिस पहली प्रतिज्ञा का तुम्हें पालन करना चाहिए वह है, *सिद्धं शरणं गच्छामि* "मैं सिद्ध की शरण में हूँ।"

दूसरी प्रतिज्ञा जिसका पालन तुम्हें करना चाहिए वह है *संघं शरणं गच्छामि* "मैं सिद्धों के संघ की शरण में हूँ।" इस बात के प्रति सचेत रहना कि इस परम्परा के सभी लोग मुझमें हैं, यही 'संघ' की शरण में जाना है, जो कि सिद्धों का संघ है। तुम्हें इस प्रकार भेद नहीं करना चाहिए कि यह नया भक्त है और वह पुराना या यह इतना बुद्धिमान है और वह इतना मूर्ख। तुम्हें सिद्धयोग के इस समाज की शरण में पूर्ण एकात्म भाव के साथ जाना चाहिए।

तुम्हारी तीसरी प्रतिज्ञा होनी चाहिए *स्वात्मानं शरणं गच्छामि* "मैं अपनी आत्मा की शरण में जाता हूँ।" इस आत्मा में महान शक्ति है। शिवसूत्र कहता है : *स्थिति लयौ* "आत्मा सृष्टि कर सकती है, पालन कर सकती है और अपनी ही सृष्टि का लय कर सकती है।" क्योंकि हमारा आत्मा में दृढ़ विश्वास नहीं होता है इसीलिए हम आत्मा की शक्ति से अनभिज्ञ रहते हैं। अतः उस विश्वास को बढ़ाओ।

इन प्रतिज्ञाओं का केवल पालन ही नहीं करो अपितु उन्हें हृदयस्थ कर लो और अपने प्रत्येक रक्तकण में उन्हें व्याप्त हो जाने दो। पूर्णरूपेण दृढ़ता के साथ सजग रहो कि मैं सिद्धों की शरण में हूँ, मैं सिद्धों के संघ की शरण में हूँ, मैं अपनी आत्मा की शरण में हूँ। तब तुम हर समय, हर स्थान पर, आत्मा का अनुभव करोगे।

वसुधैव कुटुम्बकम्

सिद्धयोग ध्यान केन्द्र, कलकत्ता, ऐसे जिज्ञासुओं का समुदाय है, जो एकसाथ मिल कर, परस्पर प्रेम का आदान - प्रदान करते हैं और श्रीगुरु की सिखावनियों को अपने हर कार्य में इस प्रकार उतारते हैं, जिससे न केवल उन्हें प्रेरणा मिलती है, वरन् जो एक चुम्बक के समान जिज्ञासुओं को अपनी ओर आकृष्ट करता है। और, वे सिद्धयोग ध्यान के अनुगामी बन जाते हैं। कलकत्ता केन्द्र के कुछ भक्तों ने इस विषय पर चिन्तन किया कि वे सिद्धयोग ध्यान केन्द्र पर क्यों जाते हैं? श्रीगुरु की सिखावनियाँ किस प्रकार उनके जीवन को प्रकाशित कर रही हैं? उन्हीं में से कुछ अनुभव हम यहाँ दे रहे हैं।

१९९६ की बात है। मेरे कार्यालय के जन-सम्पर्क विभाग की एक अधिकारी अचानक मेरे पास आयीं और बिना किसी पूर्व भूमिका के मुझे सिद्धयोग ध्यान कोर्स का एक निमन्त्रण पत्र दिया। कहा, 'शायद आपकी इसमें रुचि हो।' निमन्त्रण पा कर मैं आश्चर्यचकित रह गया। उन्हें कैसे पता चला? किसने उन्हें मेरे पास भेजा? इन प्रश्नों के रहते हुए, मैंने उस कोर्स में भाग लिया और उससे प्रेरित हो कर नियमितरूप से सिद्धयोग ध्यान केन्द्र, कलकत्ता के सत्संग में जाने लगा।

आज कलकत्ता का सिद्धयोग ध्यान केन्द्र, मेरे लिए वह स्थान है जहाँ, भक्तों की उज्जवल मुस्कान तथा तनावरहित व स्वागत भरे हृदय, मुझे श्रीगुरु के प्रेम का अनुभव कराते हैं।

साप्ताहिक सत्संग में आना ऐसा है जैसे माँ की गोद में वापिस आना। स्वार्थरहित प्रेम, संरक्षण और पूर्ण उत्साह से भरपूर एकत्व की भावना इस केन्द्र का आकर्षण है। सप्ताह के दौरान इससे दूर रहना मुझे बहुत कष्टकारी लगता है, अतः हर शनिवार मैं सबसे पहले पहुँच जाता हूँ। केन्द्र में पहुँचने पर मुझे ऐसा अनुभव होता है, जैसे ईश्वर मेरे करीब आये हैं, मुझे स्पर्श कर रहे हैं, मेरा शुद्धिकरण कर रहे हैं। जैसे ही गुरुपूजा लगायी जाती है, मैं उनकी आँखों में देखता हूँ, मुस्कुराता हूँ, उनसे बातें करने लगता हूँ। अन्तर में एक ही भाव उठता है, वे मेरी गुरु हैं, वे सतत मेरे साथ हैं। सत्संग से पहले जैसे ही हम आरम्भिक मन्त्र गाते हैं, शक्ति के वेग को मैं अपनी ओर आते हुए और अपने पूरे अस्तित्व में समाते हुए महसूस करता हूँ। उस समय मुझे पूर्ण विश्वास होता है कि जो भी सेवा मैं कर रहा हूँ उसे कोई और ही सञ्चालित कर रहा है। मैं केवल माध्यम मात्र हूँ।

केन्द्र के माध्यम से मेरा हृदय प्रेम से तृप्त रहने लगा है, जिसने मुझे अनुभव कराया कि मैं सुयोग्य साधक हूँ। दुख का जैसे अन्त ही हो गया है। एक स्थिर प्रशान्ति ने अन्तर की रिक्तता को भर दिया है। मन को सांसारिक विषयों का मूल्य समझ में आने लगा है और जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण बना है। अन्तर में हर समय प्रेम उमड़ता रहता है और मेरी इच्छा रहती है कि श्रीगुरु के प्रति व केन्द्र के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करूँ।

अब मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि अधिक से अधिक लोग केन्द्रों से जुड़ें और केन्द्र में जा कर प्रेम और शान्ति पा सकें, जिससे समस्त सिद्धयोग ध्यान केवल केन्द्र तक सीमित न रहें, सर्वत्र व्याप्त हो जायें।— ***श्री एम. बाला रॉव***

आत्म-प्राप्ति की खोज में विभिन्न संस्कृतियों के ईश्वर-प्रेमी किसी आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होते हैं। ऐसी खोज में जब ये मुमुक्षु सिद्धयोग ध्यान केन्द्र के सम्पर्क में आते हैं, तो सिद्धगुरु की कृपा-शक्ति उन्हें अपने आँचल में समेट लेती है। केन्द्र में होनेवाले आध्यात्मिक अभ्यास, नामसंकीर्तन, मन्त्र-जप, ध्यान और श्रीगुरु के शब्द, उनका आत्म-पोषण करने लगते हैं और शनैः-शनैः वे अपनी साधना में प्रगति करने लगते हैं। परस्पर प्रेम द्वारा जब वे एक हो कर अपनी सेवाओं की आहुति देने लगते हैं तो वे इस कुटुम्ब का एक अभिन्न अंग बन जाते हैं।

ऐसी ही एक अनजानी खोज में मैं एक अबोध बालिका की तरह सिद्धयोग ध्यान केन्द्र, कलकत्ता की दहलीज पार करके श्रीगुरु की शरण में आ गयी। बस, जब उनके श्रीचरणों में शीश झुकाया तो प्रेम की अविरल धारा आँखों से बह निकली। ऐसा लगा जैसे कितने जन्मों से मैं इसी खोज में थी। केन्द्र का प्रशान्त वातावरण, बाबाजी और श्रीगुरुमाई के चित्र मन को बहुत आकर्षित करने लगे। मैंने उनके और अपने बीच एक अटूट सम्बन्ध पाया। मेरे मन में सेवा का तीव्र भाव जग गया और मैं सेवा में लग गयी। और इस प्रकार श्रीगुरु के इस दिव्य कुटुम्ब का मुझे सम्बल मिला, और मैं नियमित अभ्यासों को करते हुए साधना के पथ पर बढ़ने लगी।

केन्द्र द्वारा आयोजित कोर्सों से मुझे मार्गदर्शन मिलता है और अपने अनुभवों के बारे में स्पष्टता मिलती है। सिद्धयोग ध्यान के नियमित अभ्यासों द्वारा, बाबाजी और गुरुमाईजी की सिखावनियों द्वारा, जीवन आनन्दमय होने लगा है। पहले जो आनन्द मैं बाह्य जगत की अस्थाई वस्तुओं में ढूँढ़ती थी अब वह स्थाई रूप से अन्तर में मिलने लगा है। ईश्वर की यह अनुपम प्रकृति पूर्ण सौन्दर्ययुक्त दिखाई देने लगी है। राह चलते हुए पेड़-पौधे, पशु-पक्षी यहाँ तक कि निर्जीव वस्तुओं में भी प्राण का स्पन्दन अनुभव होता है।

बाबाजी की सिखावनी *'परस्पर देवो भव'* का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा है और अन्तर के विकारों जैसे राग, द्वेष, लोभ और ईर्ष्या का स्थान धीरे-धीरे करुणा और सहनशीलता ने ले लिया है। अब हरेक के अन्दर ईश्वर देखना ही मेरे जीवन का लक्ष्य बन गया है। पहले कभी कार्यालय में या घर पर कोई असमय किसी मदद के लिए आता था तो चिड़चिड़ाहट होती थी। लेकिन अब हरेक का प्रेम से स्वागत करने में मुझे बहुत आनन्द आता है। मैं अपने अन्दर की दिव्यता को, प्रकाश को, देख पाती हूँ और मेरी इच्छा होती है कि मैं सदैव इसी दिव्य प्रेम व आनन्द में मग्न रहूँ।

केन्द्र पर जो भी नये भक्त आते हैं हृदय से उनका स्वागत करती हूँ, प्रेम से उनकी देखभाल करती हूँ जिससे वे भी अपने आपको इस परिवार का अंग समझें और अपने अन्तर की दिव्यता को पा सकें।

सिद्धयोग ध्यान के इस महान कुटुम्ब में जुड़ कर, मैंने जीवन की सही दिशा पायी है। और अब हम सपरिवार निरन्तर सीखते हुए प्रकाश के इस दिव्य पथ पर आगे बढ़ रहे हैं — एक ही कामना मन में लिए — बाबाजी के इस दिव्य कुटुम्ब में *'परस्पर देवो भव'* की भावना से सतत सेवा करते रहें। — ***सुनीता अरोरा***

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं कलकत्ता के सिद्धयोग परिवार से तीन वर्षों से जुड़ी हुई हूँ। कुछ ही समय पूर्व कलकत्ता में स्थानान्तरित हो कर आने के कारण, घर परिवार से दूर होने से, मुझे अकेलेपन का अहसास होने लगा था। तभी मेरी एक सहेली को मेरे अध्यात्म के प्रति झुकाव की जानकारी हुई तो उन्होंने मुझे नीलेश्वरी पत्रिका पढ़ने को दी। पत्रिका के ज्ञान की गंगा ने मेरे दिलो-दिमाग का स्पर्श किया और एक शनिवार को मैं अपनी सहेली के साथ सिद्धयोग ध्यान केन्द्र में सत्संग के लिए गयी। वहाँ जब पहली बार बाबा मुक्तानन्द और गुरुमाईजी के चित्र देखे तो उनकी शक्ति ने मुझे बहुत आकृष्ट किया। श्रीगुरुपादुकाओं से मिले शक्ति-स्पन्दन और सिद्धयोग ध्यान परिवार के भक्तों की आँखों से छलकते प्रेम ने मुझे इस संघम् से जोड़ दिया। मैं नियमितरूप से सत्संग में जाने लगी, जहाँ मैंने ध्यान करना सीखा तथा प्रिय बाबाजी और गुरुमाईजी की लिखी पुस्तकें पढ़ीं।

नियमति ध्यान मुझे सजगता देने लगा। मौन की अनुभूति सहज ही होने लगी। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र की धुन मेरी रगों में बसने लगी और धीरे-धीरे मैं प्रफुल्लता व अथाह उत्साह से भरने लगी। देखते-देखते समय बदल गया। जीवन के प्रति एक नयी समझ, नयी दृष्टि मिली। जो कुछ प्रभु ने

दिया है उसमें सन्तोष, उत्साह एवं कर्तव्य के प्रति निष्ठा, मेरे जीवन के शान्ति मन्दिर के द्वार बन गये हैं। — ***श्रीमती ऊषा मेहरोत्रा***

जून १९९३ मेरे जीवन का सबसे स्मरणीय समय है; जब मैंने सिद्धयोग ध्यान की छत्रछाया में शरण ली। उस समय मैं अपनी एक व्यक्तिगत समस्या से गुजर रहा था और अपने अन्तर में बहुत विचलित था। मैं किसी ऐसे सत्संग की खोज में था जहाँ मैं अपने अन्तर की रिक्तता को भर सकूँ। तभी एक मित्र के माध्यम से मेरा परिचय सिद्धयोग ध्यान केन्द्र से हुआ और मैं वहाँ सत्संग में जाने लगा।

दो महीने बाद ही केन्द्र द्वारा एक ध्यानशिविर का आयोजन हुआ जिसमें भाग लेने का मुझे सुअवसर मिला। ध्यानशिविर की शक्ति, ध्यानशिविर दे रहे स्वामीजी के असीम प्रेम और सिद्धयोग ध्यान परिवार की सहृदयता ने मुझे इस संघम् में खींच लिया और मैं पूर्ण समर्पित हो कर नियमितरूप से सत्संग में जाने लगा।

ध्यानशिविर के बाद मेरी व्यक्तिगत समस्या का स्वतः ही समाधान हो गया और सिद्धयोग के प्रति मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया। इसके कुछ समय बाद मुझे गुरुदेव सिद्धपीठ आने का अवसर मिला। वहाँ मैंने गुरुमाईजी के दर्शन किये। आश्रम में मैंने पवित्र वातावरण, स्वच्छता, शिस्तबद्धता और श्रीगुरु के प्रति प्रेम के सुन्दर प्रवाह का अनुभव किया। ऐसा लगा जैसे मैं स्वर्ग में पहुँच गया हूँ। आश्रम से आने के बाद मैं कलकत्ता के सिद्धयोग ध्यान केन्द्र का एक अंग बन गया।

शक्ति से पूर्ण, नियमित सत्संगों से मेरे अन्तः स्थल में चिन्तन-मनन की प्रक्रिया स्वतः ही आरम्भ हो गयी। मेरे विचारों में गहरा परिवर्तन होने लगा है और जीवन के हर पल, हर घटना में, मैं क्रमशः अच्छाई देखने लगा हूँ। श्रीगुरु के शब्दों को मैं रोज सुबह आधा घण्टा पढ़ता हूँ और उस पर गहराई से विचार करता हूँ। इससे मुझे आत्म-सन्तोष का अनुभव होता है। श्रीगुरु के प्रति समर्पण ने मेरे जीवन की सभी समस्याओं को बिना किसी परेशानी के सुलझाना शुरू कर दिया है, मेरा व्यवसाय समृद्धि की ओर बढ़ने लगा है और अब मैं हर पल को वर्तमान में जीना सीख गया हूँ।

सिद्धयोग ध्यान से मैंने आत्म-सन्तोष और समृद्धि का भण्डार पाया है। मुझे प्रेरणा मिली है कि मैं श्रीगुरुमाई के मिशन में केन्द्र को सम्बल प्रदान करके अपना कुछ योगदान दूँ। मैं सिद्धयोग ध्यान के प्रति अपनी समझ दूसरों में बाँटता हूँ। जो भी मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं, उन्हें मैं नामसंकीर्तन की कैसेट, पुस्तकें या नीलेश्वरी का वार्षिक शुल्क उपहार रूप

में देता हूँ। मेरी इच्छा है कि जो आन्तरिक आनन्द सिद्धयोग ध्यान से मैंने पाया है वे भी उस आनन्द को पायें। अधिक से अधिक लोगों को सिद्धयोग ध्यान से जोड़ना, इस वर्ष के लिए मेरा संकल्प है और इस सेवा द्वारा मेरी यह प्रबल इच्छा है कि मानव जाति इस दिव्य पथ पर अग्रसर हो और सभी सुखी हो सकें।— ***श्री नन्दलाल वर्मा***

यह मेरा सौभाग्य था कि १९९३ में मुझे सिद्धयोग ध्यान केन्द्र द्वारा आयोजित एक ध्यानशिविर में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ और मैंने सिद्धगुरुओं का आशीर्वाद पाया। आश्रम से इस शिविर के लिए सिद्धयोग के एक स्वामीजी आये थे। उनके प्रेम भरे निर्देशन ने हमें सच्चे मुमुक्षुओं के परिवार से जोड़ दिया। सिद्धयोग ध्यान में हम अच्छे लोगों का सान्निध्य पाने के लिए जुड़े थे, लेकिन यहाँ हमें न सिर्फ अच्छे लोगों का सान्निध्य मिला, अपितु हमें ईश्वर का महान सान्निध्य प्राप्त हुआ।

इस परिवार के भक्तों का सभी मुमुक्षुओं के प्रति प्रेम भरा स्वागत, उनकी वचनबद्धता, उनका एकत्व, उनका समर्पण, पूर्ण शिस्तपूर्वक सेवा करना और एक दूसरे से सतत सम्पर्क बनाये रखना, सभी को सिद्धयोग ध्यान से जोड़े रखता है। उनके इन सद्‌गुणों का मेरे व्यावहारिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनसे प्रेरणा पा कर अब मैं अधिक सत्यनिष्ठ और शिस्तपूर्ण हो गयी हूँ। अपनी व्यस्तता के बावजूद भक्तों का सत्संग के प्रति पूर्ण समर्पण बहुत प्रेरणादायक है।

पहले मैं कितना समय व्यर्थ की बातों में गँवाया करती थी लेकिन अब मुझे समय का मूल्य समझ में आने लगा है। अब मेरी इच्छा रहती है कि मैं अधिक से अधिक लोगों का सिद्धयोग ध्यान में स्वागत करूँ, जिससे वे भी श्रीगुरुकृपा के अमृत का पान कर सकें। मेरी यह हार्दिक इच्छा है कि श्रीगुरुमाई के मिशन और बाबाजी के स्वप्न — '*मैं इस विश्व को सन्तों से भरा देखना चाहता हूँ*' — को पूर्ण होने में अपना योगदान दे सकूँ।— ***श्रीमती एम. लक्ष्मी रॉव***

और गठरी खुल गयी

डॉ. संज्ञा मिश्रा

मैं सन् १९८६ में अपने पति तथा दो छोटे बच्चों के साथ गुरुदेव सिद्धपीठ में प्रथम बार आयी थी। मेरे पिताजी लम्बे समय से सिद्धयोग से जुड़े हैं। उन्हीं की प्रेरणा से मैं सपरिवार आश्रम में आ सकी थी।

जब सिद्धपीठ में आयी तो परिवार के अलावा मैं अपनी एक बहुत भारी शिकायतों की गठरी भी साथ लायी थी। अपने ही स्वभाव से शिकायत, आसपास से शिकायत, घरवालों से शिकायत, बाहरवालों से शिकायत, जहाँ प्रवक्ता हूँ, वहाँ से शिकायत... केवल शिकायत ही शिकायत। मुझे लगता था, मुझे जो मिलना चाहिये था, वह मिला नहीं। मैं सबसे इतना अधिक प्रेम करती हूँ, पर मुझे कभी वास्तविक और स्वार्थरहित प्रेम नहीं मिला। मैं हताश हो चुकी थी। सब कुछ तोड़ कर नया बनाने की इच्छा हो रही थी, जो कुछ मुझे ईश्वर की कृपा से मिल चुका था उसे सँभाल कर रखने का सामर्थ्य नहीं रह गया था।

गुरुदेव सिद्धपीठ में आ कर जब मैंने श्रीगुरुमाई का पहली बार दर्शन किया, तो मेरी दृष्टि में तो कौतूहल का भाव अधिक था, परन्तु उनकी दृष्टि में मेरे और मेरे परिवार के लिए अथाह प्रेम था। मेरे कौतूहल पर वे हँस रही थीं—एक मुक्त हँसी। उनकी दृष्टि मेरे अन्दर गहरे तक उतर रही थी। मुझे अनुभव हुआ कि यही वह छलछलाता समुद्र है, जिसकी मुझे तलाश थी। मैंने अनुभव किया कि आश्रम कितना शक्तिशाली है। मैंने अपने मन में उठे भावों को श्रीगुरुमाई को समर्पित कर दिया। मेरा कौतूहल कहीं खो गया। मैं श्रीगुरुमाई के प्रति एकदम से गम्भीर हो गयी। मुझ पर उनके प्रेम के छींटे पड़ चुके थे। मेरी शिकायतों की गठरी की गाँठ ढीली पड़ गयी थी। पता नहीं वे सारी शिकायतें आश्रम में कहाँ - कहाँ गिरने लगीं।

अगले दिन मैंने 'ज्योत से ज्योत जगाओ' आरती गायी और मेरी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मैंने अपने आँसुओं को रोकने का बहुत प्रयास किया। पर वे कहाँ रुकनेवाले थे! वे तो जन्म - जन्मान्तरों का दुख था, जिसे श्रीगुरुमाई बहा रही थीं। सात दिनों के पश्चात् मेरे आँसू रुके, और मेरे घर वापस जाने का समय हो गया। उसी समय से फिर आँसू बहने लगे क्योंकि अब मैं गुरुदेव सिद्धपीठ को छोड़ कर जाना नहीं चाहती थी।

तत्पश्चात् गुरुकृपा से कई बार आश्रम में आती रही हूँ। अब यदि मैं अपने आपको देखती हूँ तो मुझे लगता है कि मेरा काफी रूपान्तरण हो चुका है। श्रीगुरुमाई ने मेरी गठरी का भार उतार फेंका है और मैं हल्का अनुभव

करती हूँ। पहले जिन परिस्थितियों से मैं उद्विग्न हो उठती थी, व्याकुल हो जाती थी, अब उन्हीं परिस्थितियों का या उनसे भी कठिन परिस्थितियों का सामना धैर्य और शान्ति से करती हूँ। मुझे अनुभव होता रहता है कि कोई शक्ति है जो मेरा पवित्रीकरण कर रही है, मुझे सम्बल दे रही है। मैं विपरीत स्थितियों में भी नकारात्मक भाव से युक्त नहीं होती। मेरे सोचने में अन्तर आ गया है। जब भी मैं अपने कठिन समय से घबराती हूँ तो बाबाजी या गुरुमाईजी की कोई पुस्तक पढ़ने लगती हूँ। मुझे लगता है, जैसे उस पृष्ठ की प्रत्येक पंक्ति में मेरी समस्या का हल है।

मैं पूर्वाग्रहों से मुक्त हो चुकी हूँ। मेरे अन्दर क्षमा करने का भाव बढ़ गया है। एक बार मेरी नौकरी की परिस्थितियाँ बिल्कुल विपरीत हो गयी थीं। मैं जीवन के कठिनतम भाग से गुजर रही थी। सब कुछ अप्रत्याशित हो रहा था। विचित्र समय था। लगता था कि क्या हो गया? जैसे गाँव के कुएँ में भाँग पड़ी हो और सबने उसका जल पी लिया हो। सब उल्टा ही क्यों सोच रहे थे। प्रत्येक व्यक्ति अपने अहम् की चरम सीमा पर था। किसी के अन्दर से ईर्ष्या बोल रही थी तो किसी के अन्दर से अधिकार का अहंकार। मुझ पर समय भारी था। जीवन-मरण का प्रश्न था। निर्णायक घड़ी थी। मैं अपने में सच्ची थी, पर उस सत्य को देखनेवाला कोई नहीं था, सिवाय श्रीगुरु के। मैंने श्रीगुरुगीता का सहारा लिया। श्रीगुरुमाई की तस्वीर की ओर देखती तो लगता, वे मुस्करा कर कह रही हैं, 'बस! घबरा गयी? संसार में ऐसा ही होता है। शान्त रहो। प्रतीक्षा करो।' मैं अपने हृदय में गहरे तक उतर जाती।

अब मैं ऋणी हूँ उन व्यक्तियों की, जिन्होंने मुझे कठिन परिस्थितियों में पहुँचाया क्योंकि इससे मैं श्रीगुरु के और समीप आ सकी। मैं शान्त हो चुकी थी, किसी से बदले का कोई भाव नहीं। अपने गुरु में मस्त हो सकी थी। मेरे श्रीगुरु ने मुझे धैर्य रखना सिखाया, अग्नि में तपा कर कुन्दन बनाने की प्रक्रिया से गुजारा। सांसारिक व्यक्ति मेरा क्या कर सकते हैं? वे तो माध्यम हैं। आखिर उन्हें भी तो कर्मबन्धन में बँधना है। वे बँधे। मैंने अपने प्रारब्ध का एक अंश भोग लिया। मैं मुक्त हो गयी।

इस प्रकार मेरी रुचि सत्संग की ओर हो गयी है, श्रीगुरु की संगति की ओर। गुरुमाईजी एवं बाबाजी की पुस्तकें पढ़ना, उनके कैसेट सुनना, मुझे उनके समीप ले जाते हैं। अब मुझे यदि समाज में अपने से विपरीत मनःस्थिति के व्यक्तियों के साथ समय व्यतीत करना पड़ता है, तब भी मैं असहजता का अनुभव नहीं करती। मुझे उनसे कोई परेशानी नहीं होती, बल्कि वे क्षण मेरी साधना में सहायक होते हैं। मैं उस समय अपने हृदय में उतर जाती हूँ और आसपास के व्यक्तियों का प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ता। मैंने अनुभव किया है कि मैं जितने अधिक शोर में होती हूँ, जितनी भी

भीड़ में होती हूँ, उतनी ही अपने अन्तर में उतर जाती हूँ। ऐसे समय में, मैं मन्त्रजाप का आश्रय लेती हूँ, जिससे मैं शान्त रह पाती हूँ। मैं किसी भी स्थान पर खड़ी होऊँ, पर मैं ध्यानावस्था में रहती हूँ और उन क्षणों में मैं सिद्धपीठ में श्रीगुरु के सामीप्य का अनुभव करती हूँ।

श्रीगुरुकृपा की प्राप्ति के पश्चात् मैं अपने अन्दर गहन शक्ति का अनुभव करती हूँ। मैं भाग्यशाली हूँ कि मेरा परिवार भी सिद्धयोग में आस्था रखता है। उन पर भी श्रीगुरु की असीम कृपा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे जीवन में जो कुछ भी होगा, वह हमारे लिए सबसे अच्छा होगा। जिस भारी, अनचाही गठरी को ले कर मैं आश्रम में आयी थी, वह तो श्रीगुरुकृपा से कब की खुल गयी। वह सारा अनचाहा सामान पता नहीं कहाँ खो गया। अब तो वह 'पिछला जीवन' याद भी नहीं। अब मैं अपने वर्तमान और भावी जीवन के प्रति बिल्कुल आश्वस्त हूँ। मेरा विश्वास है कि यदि किसी पर श्रीगुरु की कृपा हो जाये तो सिद्धयोग के उस अभ्यासी का कोई भी कार्य रुकता नहीं। श्रीगुरु से 'मीठा' क्या माँगना। वे तो ऐसे वैद्य हैं जो हमें वही दवा देते हैं जो हमारे लिए सबसे अधिक हितकारी होती है। और उसमें होता है श्रीगुरु के माधुर्य और प्रेम का मिश्रण।

डॉ. संज्ञा मिश्रा, मुरादाबाद में अध्यापन का कार्य करती हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य एवं संस्कृत में परास्नातक एवं पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की है। लेखन उन्हें उनके पिता 'श्री शर्माजी' से विरासत में मिला है।

अपने अन्दर और बाहर,
जो भगवान की संगति हम रखते हैं,
उस सच्ची संगति को,
श्रीगुरु के प्रेम का माधुर्य और
उनके प्रेम की अग्नि
उजागर कर देती है।
—गुरुमाई चिद्विलासानन्द

बोल - अनमोल

बाबा मुक्तानन्द के साथ प्रश्नोत्तरी

प्रश्न : बाबाजी, मैं घर वापस जाते समय अनेक देशों की यात्रा करनेवाला हूँ। क्या आप वहाँ के लोगों के लिए कोई सन्देश देना चाहेंगे?

बाबाजी : तुम जहाँ जाओ, वहाँ लोगों को संयम से रहना और एक-दूसरे के प्रति प्रेम रखना सिखाओ, और विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार करो। विश्वबन्धुत्व ही सच्चा धर्म है। हमारे आश्रम का मुद्रालेख भी *'परस्पर देवो भव'* है।

कर्नाटक के एक कवि ने अपने काव्य में लिखा है कि हरेक धर्मवालों का स्वर्ग भी एक ही है और नरक भी एक ही है। हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध या ईसाइयों के स्वर्ग-नरक अलग-अलग नहीं; तो फिर पृथ्वी पर इतने सारे धर्म और सम्प्रदाय कहाँ से उत्पन्न हुए?

ईश्वर धर्मातीत है; इसलिए तुम लोगों को विश्वबन्धुत्व की भावना से संयमी जीवन जीना सिखाओ। यही मेरा सन्देश है।

प्रश्न : हमें सभी प्राणियों के प्रति विनम्रभाव रखना चाहिए, इस समझ का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है?

बाबाजी : करुणा, प्रेम, दया और विनम्रभाव से अहम् को नष्ट किया जा सकता है। ये सभी गुण मनुष्य के लिए बहुत बड़ी दवा हैं। मनुष्य का एक-दूसरे के प्रति सम्मानयुक्त हो कर रहना बहुत श्रेष्ठ है, नहीं तो विषमता आ जाती है। फिर बहुत उपद्रव होता है। ध्यानयोग में भी जहाँ तक विनम्रता नहीं आती, वहाँ तक कुछ नहीं आता। केवल भटकना ही रह जाता है, परमशान्ति तो आती नहीं। कुण्डलिनी जब अहम् को खा जाती है, तब प्राणीमात्र के प्रति मैत्रीभाव आ जाता है।

प्रश्न : आप कहते हैं कि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है... आपके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है?

बाबाजी : यह सच है कि गुरु-शिष्य सम्बन्ध अनेक जन्मों से चला आ रहा है और ध्यान में तुम्हें इसकी प्रतीति हो सकती है। अपने ध्यान को बढ़ाते जाओ और ध्यान में पिछले सात जन्मों में गुरु से तुम्हारा जो सम्बन्ध रहा है कभी न कभी उसे देख पाने में तुम सक्षम होगे।

शिष्य की गुरु के साथ इतने लम्बे समय तक रहने की क्षमता तथा गुरु और शिष्य में एक दूसरे के प्रति बहुत प्रेम व सन्मान का होना, यह दर्शाता है कि यह सम्बन्ध भूतकाल में बहुत ही गहन रहा होगा। यहाँ आश्रम में, विभिन्न देशों के लोग बहुत ही खुशी से साथ-साथ रहते हैं। पूर्व के जन्मों में बिना किसी सम्बन्ध के क्या ऐसा सम्भव था? आश्रम में आनेवाले दर्शनार्थी, जब तुम्हें देखते हैं, तो सचमुच वे अचम्भित हो जाते हैं। वे सोच में पड़ जाते हैं कि आश्रम में इतना प्रेम कैसे व्याप्त है! लोग यहाँ इतने सामञ्जस्य के साथ कैसे रहते हैं! साथ-साथ कार्य करते हैं, सदा तत्पर एवं लगनशील रहते हैं तथा भक्ति से पूर्ण होते हैं! वे तुम्हारे प्रति विस्मित होते हैं। हम बहुत लम्बे समय से साथ-साथ हैं। तुममें से प्रत्येक अपने कार्य को पूर्ण करता है, तत्पश्चात् प्रत्येक अपने स्थान में बैठ कर अपनी साधना करता है। इसलिए, यह सम्बन्ध बहुत जन्मों से अनवरत है। इस जगत में आने से पहले हम सभी किसी अन्य स्थान में साथ-साथ थे। यद्यपि हमने अलग-अलग देशों में जन्म लिया है, विभिन्न रीतियों से हमें यहाँ लाया गया है, तथापि हम जिस स्थान से आये हैं कुछ निश्चित क्षणों में वहाँ की यात्रा करते हैं। दिव्य भगवद्विधान के अनुसार, हम सभी एक बार फिर साथ-साथ आये हैं। तुम्हें ध्यान के द्वारा इस सम्बन्ध की प्रकृति का पता लगाना चाहिए।

प्रश्न : किस प्रकार की भक्ति आपको अधिक प्रिय है?

बाबाजी : केवल वही भक्ति मुझे प्रिय है, जिसमें तुम अपने अन्तरात्मा को भगवान के समकक्ष मानते हो। जब तुम भगवान या गुरु को अपने हृदय में बिठा कर, अपने स्वस्वरूप को भगवत्स्वरूप या श्रीगुरुरूप मान कर, उसका सन्मान करते हो, तो इससे मुझे प्रसन्नता होती है। जब तुम भगवान या श्रीगुरु के रूप में दूसरों का सन्मान करते हो, तो यह मुझे और भी अधिक आनन्द प्रदान करता है। यह सर्वोच्च पूजा है। हर जगह आत्मा को देखना सर्वोत्तम उपासना है। एक बार तुकाराम महाराज से पूछा गया, 'भगवान किस पर अपनी कृपा बरसाते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'भगवान उन पर अपनी कृपा बरसाते हैं, जो अपनी व्यक्तिगत सत्ता को भगवान में लय कर देते हैं और उनके साथ एकरूप हो कर स्वस्वरूप पर ध्यान करते हैं।'

तुलसीकृत रामायण में भगवान शिव उमा के इस प्रश्न, 'सर्वोत्तम पूजा क्या है?' के उत्तर में कहते हैं, 'वह महानतम उपासक है, जिसने काम, क्रोध, लोभ आदि संभ्रमों को अपने वश में कर लिया है। वह जगत में हर जगह भगवान को देखता है—जगत, भगवान और अपने को एकरूप देखता है।'

यह पूजा करने की मेरी रीति है। इसके साथ-साथ मैं श्रीगुरु को भी याद रखता हूँ। आत्मभाव, सर्वत्र आत्मा को देखना और गुरुभाव, सर्वत्र

श्रीगुरु का दर्शन करना, एक समान हैं। श्रीगुरुगीता कहती है कि गुरुभाव, पवित्रों में पवित्रतम है, सर्वोच्च पूजा है। किन्तु हमें गुरुभाव में, श्रीगुरु के अभिज्ञान के बोध में, अपने को पूर्णतः खो देना चाहिए। फिर हमें अन्य किसी पूजा की आवश्यकता नहीं होगी।

तुम्हारे अन्तरात्मा के आह्लाद में सतत मस्त रहने से भी अधिक आनन्द मुझे तब होता है, जब तुम उसी आत्मा को बाहर सर्वत्र देखते हो; इस प्रकार तुम अपने अन्तर से आह्लाद और तृप्ति को उत्पन्न करते हो। जो अपनी आत्मा में तृप्त है, जो सभी कुछ में आत्मा को देखता और पूजता है, वह केवल अपने गुरु या इष्टदेव की ही कृपा नहीं पाता, वरन् सभी देवी-देवताओं की कृपा को प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह सभी को प्रसन्न करने की सर्वोत्तम रीति है।

हर रोज तुम्हें ध्यान में अपनी अन्तरात्मा में और अधिक गहरे उतरना चाहिये। प्रतिदिन तुम्हें भक्ति को अधिक गहन और तीक्ष्ण करते रहना चाहिये। हर रोज अपने अन्तर्जगत के प्रति अपनी समझ को तुम्हें बढ़ाते रहना चाहिये।

प्रश्न : हम क्यों जी रहे हैं?

बाबाजी : हम इसलिए जीते हैं : परम आनन्द, सर्वोच्च उत्साह, उच्चतम आह्लाद, की अनुभूति करने के लिए। मानव जीवन गुह्य एवं महत्त्वपूर्ण है; यह दिव्य एवं आदर्श है। इस मानव देह में, इस मानव जन्म में, हम सृष्टि के रचयिता को अपने अन्तर में देख सकते हैं, हम उससे मिल सकते हैं, उससे बातें कर सकते हैं और हम 'वही' बन सकते हैं।

मानव जीवन बहुत सुन्दर है। इसीलिए हमें इस जगत में अपनी सुन्दरता का प्रसार करना चाहिये। हमें विश्वबन्धुत्व के बोध का प्रसार करना चाहिये। हमें एक दूसरे से बहुत प्रेम और सन्मान से मिलना चाहिये। दिव्यता हरेक के अन्तर में व्याप्त है। दूसरे लोगों का सन्मान नहीं करना, भगवान का सन्मान नहीं करना है।

मैं मानवता में विश्वास रखता हूँ और मैं मानवता को पूर्णरूपेण सम्बल देता हूँ। मैं किसी धर्म या सम्प्रदाय का नहीं हूँ। मैं न तो किसी धर्म का विरोध करता हूँ और न किसी सम्प्रदाय का पक्षधर ही हूँ। किन्तु मैं मानवता का स्वागत करता हूँ। मानव देह भगवान का मन्दिर है, ऐसी मेरी पूर्ण समझ है, ऐसी मेरी दृढ़ मति है। यह केवल समझ नहीं है—यह मेरा अपना अनुभव है। इस मन्दिर में अनुप्राणित भगवान रहता है।

प्रश्न : अशुभ या पाप क्या है? इसके लिए लोग क्या कर सकते हैं?

बाबाजी : दूसरों को कष्ट देना पाप है। इससे बुरा कोई पाप नहीं है। लोग स्वर्ग और नरक की बात करते हैं, किन्तु दूसरों को दुख देने से कोई भयावह नरक नहीं है। दूसरों को परेशान करने या कष्ट देने के विषय में सोचना भी नरक है। लोगों को इस आदत को छोड़ देना चाहिए; उन्हें लोगों की सहायता करने के विषय में सोचना चाहिए। यह तो केवल सांसारिक जीवन का मामला है, किन्तु यदि तुम थोड़ा-सा ऊपर उठ कर देखोगे तो पाप का एक दूसरा ही अर्थ है।

यदि तुम अपनी आत्मा का सन्मान नहीं करते हो, तो यह भी पाप है। वह सबसे महान पापी है, जिसे अपनी आत्मा की समझ नहीं, जो अपनी आत्मा का अपमान करता है, और वह जो अपनी आत्मा को नहीं पा लेता। क्योंकि हम अपनी आत्मा को नहीं समझते, इसीलिए हम दूसरों की अन्तरात्मा को नहीं समझते हैं। इस अज्ञान के कारण ही पाप होता है। अतः जब एक व्यक्ति ध्यान एवं ज्ञान के द्वारा अपनी अन्तरात्मा की प्राप्ति कर लेता है, तो वह अन्तर में व्याप्त दिव्यता को पा लेता है। तब वह दूसरों में कुछ भी बुराई नहीं देखता, उसे किसी भी चीज में पाप नहीं दिखाई देता।

सत्य यह है : सभी के अन्दर एक ही आत्मा विद्यमान है। वह आत्मा सर्वव्यापी है और हमें इसके प्रति जागरूक हो जाना चाहिए। आत्मा केवल एक है, किन्तु अनेक रूपों में है। केवल अन्तरात्मा महत्त्वपूर्ण है, बाह्य प्रतीतियों का कोई महत्त्व नहीं है। पूरे संसार के लिए एक ही आत्मा है। आत्मा न तो पूर्व है और न पश्चिम, न गोरा है न काला, न पुरुष है न स्त्री, न उच्च है न नीच। आत्मा परम सुन्दर है और प्रकाश से पूर्ण है। वह प्रत्येक के अन्तर में प्रकाशरूप में व्याप्त है। जब ऐसा है, तो यदि तुम दूसरों को कष्ट देते हो, तो यह तुम्हारे जीवन का महानतम पाप है।

यदि एक व्यक्ति अपने सच्चे स्वभाव को समझ लेता है, तो उसे ज्ञात हो जाता है कि प्रत्येक उसका अपना ही आत्मा है। हमें सदा यही सोचना चाहिए। आश्चर्य की बात है कि यद्यपि सुन्दर आत्मा हमारे अन्तर में है, यद्यपि भगवान की ज्योति ही विभिन्न रूपों में प्रकट हुई है, फिर भी हम खुश नहीं हैं, हम दुखी हैं। अहम् के कारण हम अपने को दूसरों से उच्च और महान समझते हैं, किन्तु हमें अपनी सच्ची महानता को समझने का प्रयास करना चाहिए। यद्यपि आत्मा हमारे सन्निकट है, परन्तु यदि हम उस आत्मा को जान नहीं लेते, हम आत्म-प्राप्ति नहीं करते, तो वह अहम् किस काम का है?... तुकाराम महाराज कहते हैं कि दूसरों की सहायता करना महान पुण्य है और दूसरों को कष्ट देना महापाप।

कौन हैं ये साथी?

समुदाय विशुद्ध त्याग से भरा है।

पथ पर अवरोध समान एक झुरमुट है,
वह बना है उन सबसे जो तुम्हें उससे दूर रखता है।
कोई डर कि तुम टूट जाओगे काँच के टुकड़े समान।

यह मार्ग माँगता है पराक्रम, सहनशक्ति,
फिर भी यह पदचिह्नों से भरा है!
कौन हैं ये साथी?
वे हैं तुम्हारे सोपान की यष्टियाँ।
उनका प्रयोग करो!
संगति होने से तुम उत्कर्ष पर शीघ्र पहुँच जाओगे।

बेशक तुम अकेले चलने में बहुत खुश होगे,
परन्तु दूसरों के साथ तुम शीघ्रता से और अधिक आगे पहुँचोगे।

हरेक मसीहे ने सहचरों को ढूँढ़ा है।
अकेली खड़ी दीवार बेकार है,
किन्तु तीन या चार दीवारों के एक साथ होने से
वे एक छत को सम्बल देंगी और धाम को सुरक्षित रखेंगी।

जब स्याही कलम के साथ जुड़ जाती है,
तो कोरा कागज़ कुछ कह सकता है।
घास के तृण और बेत को बुन कर ही
एक उपयोगी चटाई बनायी जा सकती है,
यदि उन्हें एक साथ बुना नहीं जाता,
तो हवा उन्हें दूर उड़ा ले जायेगी।

उसी प्रकार, भगवान ने प्राणियों की जोड़ियाँ बनायी हैं
और उनमें मित्रता करायी है।

—जलालुद्दीन रूमी

एक अलौकिक संसर्ग

गुरुमाई चिद्विलासानन्द

बड़े प्रेम व बड़े सन्मान से सबका हार्दिक स्वागत।

योगवासिष्ठ के प्राचीन ग्रन्थ में ऋषिगण कहते हैं:

"प्रज्ञावान के साहचर्य में एकान्त भी संगति का अनुभव कराता है। उससे मृत्यु आनन्दपूर्ण प्रतीत होती है; कठिन कार्य सरल हो जाता है। सत्संग प्रज्ञा के प्रकाश को प्रकट कराता है, जो कि वर्षा में धुले फूलों के गुच्छों के समान सुन्दर होता है।"

हर समय, हर ऋतु के अपने ही वैभवपूर्ण रहस्य होते हैं, जिनकी खोज करनी होती है व रसपान करना होता है। उनका सत्संग द्वारा स्वागत किया जा सकता है और इसी प्रकार उन्हें आत्मसात् भी किया जा सकता है। सत्संग एक प्राचीन परम्परा है जिसका सदा से ही अर्थ है, महान सन्तों की संगति में रहना। इसका यह भी अर्थ है कि दूसरे भक्तों की संगति करना और भगवान की अलौकिक उपस्थिति को पुनः प्रकट करना। जिस स्थान में सत्संग होता है, वह स्थान बदल सकता है, किन्तु सत्संग का जो सार है, वह नहीं बदलता है।

सिद्धयोग ध्यान में सत्संग का एक और अर्थ है—सत्य का उन्मीलन। सत्संग में, सत्य की संगति में, यह उन्मीलन होता है। अपने अन्तर में तुम सत्य को पहचान लेते हो। अनेकों बार सत्संग के समय कुछ ऐसा अद्वितीय घटता है, जिसकी तुमने कल्पना भी नहीं की होती है। साथ ही साथ साधारण बातें भी घटती हैं, तुम्हारी कोई बहुत पुरानी इच्छा सत्संग में बैठते ही पूर्ण हो जाती है; न कुछ करते हुए, न किसी विषय में सोचते हुए। असाध्य रोग एक महान सन्देश को, एक महान आशीर्वाद को, प्रकट कर सकता है। तुम केवल बैठे हो, कुछ भी नहीं कर रहे हो, तथापि अचानक तुम यह समझ जाते हो कि तुम्हें वह रोग क्यों है, उसमें कौन-सी सिखावनी निहित है। ऐसी दुष्कर समस्याएँ जिनको तुम सुलझा नहीं पा रहे थे, हो सकता है ऐसे ही लुप्त हो जायें या फिर तुम्हें यह समझ मिल जाये कि अपने जीवन के किसी विशिष्ट समय पर तुम उस विशिष्ट चुनौती का सामना क्यों कर रहे थे।

देर-सबेर तुम्हें यह समझ आ जाती है कि अपने दैनिक कार्य-कलापों से अनासक्त हो कर कुछ क्षण सत्संग में बिताना, अपने भविष्य

या भूतकाल के विषय में चिन्ता करने से अधिक उत्पादक एवं हितकारी है। सत्संग के समय कुछ अमूल्य क्षणों के लिए तुम अपनी दैनिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाते हो। महान शक्ति के वितान में शान्त बैठना सम्भवतः तुम्हारे जीवन का सर्वोत्कृष्ट सञ्चय बन जाये।

ऐसी सत्संग की शक्ति है! यह तुम्हारे आध्यात्मिक अभ्यासों के लिए परम आवेशित संवर्धन है। यह शुद्ध और सहायक है जो तुम्हें सम्बल प्रदान करता है और तुम्हारा मार्गदर्शन करता है। यह वह समय है जब तुम शान्त बैठो और सत्य के ज्ञान में निमग्न हो जाओ — उस सत्य में नहीं जो तुम केवल बाह्यरूप से सुनते हो, वरन् उस सत्य में जो तुम्हारे अन्तर में जाग्रत होगा; तुम्हारी अपनी प्रेरणा। जब तुम सत्संग में हो, तो तुम्हें पता है कि तुम सही स्थान पर हो, सही समय पर हो और सही लोगों की संगति में हो।

सत्संग में जो कुछ भी होता है, वह उच्चतम प्राप्ति की ओर ले जाता है। सत्संग के द्वारा तुम अपनी अन्तरात्मा को पा लेते हो। यद्यपि सत्संग एक प्राचीन अभ्यास है, तथापि उसकी संरचना नवजीवन और प्रचुरता से अनुप्राणित है। यह एक बीज की तरह है जो अपने अन्तर में एक विशाल वृक्ष एवं अद्भुत फलों-फूलों को समाहित किये हुए है। ऐसा नहीं है कि समय के साथ-साथ सत्संग और अधिक सुन्दर एवं अधिक परिपूर्ण होता जायेगा। सत्संग इसी क्षण सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु समय के साथ-साथ तुम परिपक्व होते जाओगे और तुम्हें अपने महान सत्य का अभिज्ञान हो जायेगा।

सत्संग सच्चे अन्तर-रूपान्तरण को प्रेरित करता है। सत्संग में तुम एक साथ एकत्रित होते हो — अदृश्य को देखने के लिए, अश्रुत को सुनने के लिए, और 'उसका' अनुभव करने के लिए जो समस्त इन्द्रियों से परे है। तुम 'वह' जानना चाहते हो, जो शाश्वत है, जो तुम्हारी मृत्यु होने पर मरता नहीं, जो संसार के लुप्त होने पर लुप्त नहीं होता। तुम अन्तर में महान प्रकाश को जानना चाहते हो। इसीलिए तुम सत्संग में आते हो।

सत्संग में तुम अपने बारे में अनेकानेक विषयों की खोजें करते हो। वास्तव में, तुम परम सत्य को जानने की आकाँक्षा रखते हो। तुम परम आत्मा पर ध्यान करना चाहते हो। फिर जब तुम अन्तर में गहरे उतरते हो, तो तुम्हें अपने विषय में बहुत-सी नयी अन्तर्दृष्टियाँ प्राप्त होती हैं, तो तुम्हें उन्हें लौकिक या तुच्छ नहीं समझना चाहिए और ऐसा भी नहीं सोचना चाहिए कि वे तुम्हारे ध्यान को आकृष्ट करने के लिए

अपात्र हैं। अपने विषय में तुम्हें जो भी पता चलता है, तुम्हें उसका सम्मान करना चाहिए। तुम्हें यह समझना चाहिए कि इन सब में भी दिव्यता का प्रकाश है। जो भी तुम्हारे समक्ष प्रकट होता है, वह इसलिए होता है क्योंकि तुम्हें वह जानना है। कुछ भी लौकिक नहीं है, सब कुछ ईश्वर के प्रकाश से प्रकाशित है।

एक व्यक्ति अनभिज्ञतावश नीलम को एक साधारण नीला पत्थर समझ सकता है, किन्तु एक अनुभवी जौहरी अवश्य ही उसके सच्चे मूल्य को जानता है। एक साधारण व्यक्ति एक भूभाग को देख कर उसे मात्र कूड़ा-करकट डालने का स्थान समझ सकता है, किन्तु एक किसान उसमें लहलहाती फसल को देखता है। चाहे यह अभिज्ञान हो या न हो, हरेक को अपनी समझ के होने या न होने का सतत बोध होता रहता है। इसीलिए, तुम्हें अपनी महान पात्रता को देखना है। जब तुम्हें यह पता लगे कि तुम प्रगति नहीं कर रहे हो, तब तुम्हें हताश नहीं हो जाना चाहिए। उस समय यह समझना चाहिए कि वह अपने आप में प्रगति है, क्योंकि उस समय में तुम आगे बढ़ने का निर्णय लेते हो, यह निर्णय लेते हो कि तुम अपने जीवन को उच्चतम बनाओगे।

सत्य की संगति रखना, सत्संग करना, यथार्थ में मूल्यवान है। सत्संग उन सभी अवरोधों को हटा देता है जो तुम्हें अन्तरात्मा से विलग रखते हैं। द्वैत की दीवारों को ढह जाना चाहिए, किन्तु यह केवल एक दिन की बात नहीं है। इसलिए अधिकतर समय एक व्यक्ति सत्संग से उतना ही प्राप्त कर पाता है, जितना उसके संस्कार उसे लेने देते हैं। संस्कार जो कि पूर्व कर्मों और विचारों के कारणवश सञ्चित हुए हैं, एक दर्पण के समान तुम्हारे समक्ष आ जाते हैं।

एक बार किसी ने बाबा मुक्तानन्द से कहा, *"बाबाजी, आप कितने सुन्दर हैं!"*

बाबाजी ने उत्तर दिया, *"तुम्हारा हृदय एक स्वच्छ दर्पण है। जो तुम मुझमें देख रहे हो, वह स्वयं तुम्हारी ही सुन्दरता का प्रतिबिम्ब है। तुमने देखा होगा कि जब तुम अकेलेपन और रिक्तता का अनुभव कर रहे होते हो, तो सम्पूर्ण जगत उसी स्थिति को तुम्हारे लिए वापस प्रतिबिम्बित करता है। जब तुम प्रेम और सुन्दरता से परिपूर्ण होते हो, तो सम्पूर्ण जगत अद्वितीय होता है।"*

तुम सत्संग में अपने पुराने संस्कारों को छोड़ने के लिए और एक नवारम्भ करने के लिए आते हो। सत्संग में तुम ईश्वर से प्रेम करना

जब भी ईश्वरीय प्रेम की चर्चा होती है,
जब भी ईश्वरीय प्रेम को अनुभूत किया जाता हो,
समस्त सिद्ध और महान आत्माएँ,
समस्त सन्त, समस्त देवी-देवता,
समस्त योगी और संन्यासी,
और वे सभी आत्माएँ जो ईश्वर की महिमा गाती हैं,
उस सभा में सम्मिलित होती हैं।

—गुरुमाई चिद्विलासानन्द

सीखते हो। तुम्हें इन्द्रिय सुख को त्यागना नहीं है। किन्तु तुम यह सीखते हो कि कैसे सदा ईश्वर को याद रखो और इन्द्रिय सुख की पिपासा में बहक न जाओ। जब तुम शान्त बैठते हो, जब तुम मन्त्र-जप करते हो, जब तुम अपने प्रकाश पर ध्यान करते हो, तब तुम अपने को सर्वोच्च उपहार दे रहे होते हो। अपनी अन्तरात्मा के दर्शन करने के लिए तुम्हें एक स्वच्छ एवं प्रशान्त सरोवर बन जाना है, जो चन्द्र को उसकी पूर्णता में प्रतिबिम्बित करता है। केवल तुम्हारी दिव्यता का अनुभव ही तुम्हारे मन को विश्रान्ति देता है और तुम्हारे अहम् को शान्त कर देता है। बाह्य जगत में शान्ति को खोजने से वह तुम्हें नहीं मिलेगी, किन्तु जिस क्षण तुम अन्तर की ओर मुड़ जाओगे, वह तुम्हें मिल जायेगी।

सत्संग में तुम यह देखते हो कि अपने सम्पूर्ण जीवन को तुम ईश्वर की सेवा में किस प्रकार परिवर्तित कर सकते हो। एक बार जब तुम अपनी महानता को जान जाते हो; जब तुम्हें सत्य का अभिज्ञान हो जाता है, तो तुरन्त ही तुम्हारा मन और हृदय दृढ़ता और अन्तर-शुचिता का अनुभव करने लगता है। नकारात्मकताएँ कमजोर हो जाती हैं और अन्तर-शुचिता प्रबल हो जाती है। बिना प्रतिरक्षा किये तुम्हें दूसरों को सुनने की सामर्थ्य आ जाती है। बिना किसी अपेक्षा के दूसरों की सेवा करने की क्षमता आ जाती है। जब तुम्हें अपने प्रकाश, अपनी महानता, अपने वैभव, का ज्ञान होता है, तो तुम निर्भय हो कर पुष्पित होते हो क्योंकि तुम्हें यह पता है कि कोई तुमको कुचल नहीं सकता। जो कुछ भी होता है, तुम्हें पता है, उसमें ईश्वर का वरद्हस्त सदा तुम्हारा संरक्षण कर रहा है। कोई भी तुम्हारी आत्मा को चुरा नहीं सकता। कोई भी तुम्हें तुम्हारे प्रेम से वञ्चित नहीं कर सकता है।

सत्संग में तुम सीखते हो कि यह सम्पूर्ण जगत एक महान आश्चर्य है; यह महान सद्भाग्य, चमत्कार और विस्मय से भरा है। सत्संग तुम्हें वे सारी अन्तर्दृष्टियाँ देता है जिनकी तुम्हें आवश्यकता है। सत्संग के द्वारा जो चिन्तन उभरता है, वह अन्तर्विस्तार को प्रकट करता है। जो तुम्हें देखना चाहिए, तुम वह देख पाते हो; तुम्हें जो सुनना चाहिए, वह सुन पाते हो। अन्यान्य प्राप्तियों से बढ़ कर तुम्हें अपने अन्तर में परम तृप्ति की अनुभूति होती है। पानी की एक बूँद से या फिर एक छोटी-सी मुस्कान से तुम आनन्दित हो जाते हो : तुम छोटी से छोटी चीज से आनन्दित होना सीख लेते हो। तुम कुछ भी अद्भुत या महान घटित होने की प्रतीक्षा नहीं करते। सड़क पार करते हुए या फिर एक मित्र

को बुलाते हुए तुम हर्षित रहते हो। चाहे तुम कोई भी कर्म कर रहे होते हो, वह तुम्हें आनन्द प्रदान करता है। सब कुछ आशीर्वादित है। जिन लोगों को तुम देखते हो, जो कार्य तुम करते हो, कमरे में जिस कुर्सी पर तुम बैठे हो और एक शिशु, जो तुम्हारे पास आता है और तुमसे बात करता है, हरेक में तुम पावनता का अनुभव करते हो। तुम्हारे पास हरेक व्यक्ति एवं वस्तु के लिए समय है। क्यों? क्योंकि तुम तृप्ति का अनुभव कर रहे हो।

अपने श्रीगुरु के साथ सत्संग की शक्ति के विषय में बाबाजी ने कहा है, *"एक बालक के रूप में भी मुझे यह पता था कि ईश्वर की सत्ता सबसे अनमोल है एवं उनसे मित्रता करने से बढ़ कर और कुछ नहीं हो सकता। मुझे पता था कि ईश्वर महानतम एवं विश्वसनीय मित्र हैं और वे सदा तुम्हारे साथ होंगे। मैं उनसे मित्रता करना चाहता था, परन्तु मुझे बताया गया कि ऐसा करना कठिन है। अतः मैं ऐसे व्यक्ति की खोज में निकल पड़ा जो ईश्वर का मित्र था और जिससे मैं मित्रता कर सकता था। अन्ततः मुझे परम मित्र के मित्र मिले और उन्होंने अपने मित्र से मेरी मित्रता करायी। और अब, इस जगत में मित्रों को खोजने के स्थान पर, लोगों की ईश्वर से मित्रता कराना मेरे लिए सर्वोत्तम कार्य है।"*

कितना उत्कृष्ट विचार, कितनी उत्कृष्ट इच्छा। सत्संग हमें यह समझने में सहायता करता है, वह भी इस रीति से जिसे हम नकार नहीं सकते, जीवन कितना ही लम्बा क्यों न हो, यह भगवान की अनुपम भेंट है। यही सत्संग की शक्ति है। तुम सत्संग में केवल मन की शान्ति और हृदय के शुद्धिकरण की अनुभूति करने के लिए ही नहीं आते हो, वरन् यह जानने के लिए कि तुम्हारा जीवन अनमोल है। और तब, तुम इस समझ को अपने मित्रों, सम्बन्धियों, प्रियजनों और उन लोगों तक पहुँचाते हो, जिन्हें तुम जानते हो। तुम उनकी सहायता करते हो कि वे यह जानें कि उनका जीवन भी बहुत अनमोल है। इस संसार को तुम्हें बहुत कुछ देना है, और दूसरों के लिए भी यही सत्य है। अतः तुम उन्हें यह बता सकते हो कि वे जो कुछ भी करते हैं, उसका बहुत महत्त्व है; चाहे वह दीखने में छोटा ही क्यों न हो, कालान्तर में वह फलीभूत होगा। तुम जो भी अच्छा कार्य करते हो, यद्यपि वह कितना ही छोटा लगे, उसका प्रभाव चिरस्थायी होगा।

एक बार फिर बड़े प्रेम व सन्मान से सबका हार्दिक स्वागत।

सद्गुरुनाथ महाराज की जय!

सीखते हो। तुम्हें इन्द्रिय सुख को त्यागना नहीं है। किन्तु तुम यह सीखते हो कि कैसे सदा ईश्वर को याद रखो और इन्द्रिय सुख की पिपासा में बहक न जाओ। जब तुम शान्त बैठते हो, जब तुम मन्त्र-जप करते हो, जब तुम अपने प्रकाश पर ध्यान करते हो, तब तुम अपने को सर्वोच्च उपहार दे रहे होते हो। अपनी अन्तरात्मा के दर्शन करने के लिए तुम्हें एक स्वच्छ एवं प्रशान्त सरोवर बन जाना है, जो चन्द्र को उसकी पूर्णता में प्रतिबिम्बित करता है। केवल तुम्हारी दिव्यता का अनुभव ही तुम्हारे मन को विश्रान्ति देता है और तुम्हारे अहम् को शान्त कर देता है। बाह्य जगत में शान्ति को खोजने से वह तुम्हें नहीं मिलेगी, किन्तु जिस क्षण तुम अन्तर की ओर मुड़ जाओगे, वह तुम्हें मिल जायेगी।

सत्संग में तुम यह देखते हो कि अपने सम्पूर्ण जीवन को तुम ईश्वर की सेवा में किस प्रकार परिवर्तित कर सकते हो। एक बार जब तुम अपनी महानता को जान जाते हो; जब तुम्हें सत्य का अभिज्ञान हो जाता है, तो तुरन्त ही तुम्हारा मन और हृदय दृढ़ता और अन्तर-शुचिता का अनुभव करने लगता है। नकारात्मकताएँ कमजोर हो जाती हैं और अन्तर-शुचिता प्रबल हो जाती है। बिना प्रतिरक्षा किये तुम्हें दूसरों को सुनने की सामर्थ्य आ जाती है। बिना किसी अपेक्षा के दूसरों की सेवा करने की क्षमता आ जाती है। जब तुम्हें अपने प्रकाश, अपनी महानता, अपने वैभव, का ज्ञान होता है, तो तुम निर्भय हो कर पुष्पित होते हो क्योंकि तुम्हें यह पता है कि कोई तुमको कुचल नहीं सकता। जो कुछ भी होता है, तुम्हें पता है, उसमें ईश्वर का वरद्हस्त सदा तुम्हारा संरक्षण कर रहा है। कोई भी तुम्हारी आत्मा को चुरा नहीं सकता। कोई भी तुम्हें तुम्हारे प्रेम से वञ्चित नहीं कर सकता है।

सत्संग में तुम सीखते हो कि यह सम्पूर्ण जगत एक महान आश्चर्य है; यह महान सद्भाग्य, चमत्कार और विस्मय से भरा है। सत्संग तुम्हें वे सारी अन्तर्दृष्टियाँ देता है जिनकी तुम्हें आवश्यकता है। सत्संग के द्वारा जो चिन्तन उभरता है, वह अन्तर्विस्तार को प्रकट करता है। जो तुम्हें देखना चाहिए, तुम वह देख पाते हो; तुम्हें जो सुनना चाहिए, वह सुन पाते हो। अन्यान्य प्राप्तियों से बढ़ कर तुम्हें अपने अन्तर में परम तृप्ति की अनुभूति होती है। पानी की एक बूँद से या फिर एक छोटी-सी मुस्कान से तुम आनन्दित हो जाते हो : तुम छोटी से छोटी चीज से आनन्दित होना सीख लेते हो। तुम कुछ भी अद्भुत या महान घटित होने की प्रतीक्षा नहीं करते। सड़क पार करते हुए या फिर एक मित्र

को बुलाते हुए तुम हर्षित रहते हो। चाहे तुम कोई भी कर्म कर रहे होते हो, वह तुम्हें आनन्द प्रदान करता है। सब कुछ आशीर्वादित है। जिन लोगों को तुम देखते हो, जो कार्य तुम करते हो, कमरे में जिस कुर्सी पर तुम बैठे हो और एक शिशु, जो तुम्हारे पास आता है और तुमसे बात करता है, हरेक में तुम पावनता का अनुभव करते हो। तुम्हारे पास हरेक व्यक्ति एवं वस्तु के लिए समय है। क्यों? क्योंकि तुम तृप्ति का अनुभव कर रहे हो।

अपने श्रीगुरु के साथ सत्संग की शक्ति के विषय में बाबाजी ने कहा है, *"एक बालक के रूप में भी मुझे यह पता था कि ईश्वर की सत्ता सबसे अनमोल है एवं उनसे मित्रता करने से बढ़ कर और कुछ नहीं हो सकता। मुझे पता था कि ईश्वर महानतम एवं विश्वसनीय मित्र हैं और वे सदा तुम्हारे साथ होंगे। मैं उनसे मित्रता करना चाहता था, परन्तु मुझे बताया गया कि ऐसा करना कठिन है। अतः मैं ऐसे व्यक्ति की खोज में निकल पड़ा जो ईश्वर का मित्र था और जिससे मैं मित्रता कर सकता था। अन्ततः मुझे परम मित्र के मित्र मिले और उन्होंने अपने मित्र से मेरी मित्रता करायी। और अब, इस जगत में मित्रों को खोजने के स्थान पर, लोगों की ईश्वर से मित्रता कराना मेरे लिए सर्वोत्तम कार्य है।"*

कितना उत्कृष्ट विचार, कितनी उत्कृष्ट इच्छा। सत्संग हमें यह समझने में सहायता करता है, वह भी इस रीति से जिसे हम नकार नहीं सकते, जीवन कितना ही लम्बा क्यों न हो, यह भगवान की अनुपम भेंट है। यही सत्संग की शक्ति है। तुम सत्संग में केवल मन की शान्ति और हृदय के शुद्धिकरण की अनुभूति करने के लिए ही नहीं आते हो, वरन् यह जानने के लिए कि तुम्हारा जीवन अनमोल है। और तब, तुम इस समझ को अपने मित्रों, सम्बन्धियों, प्रियजनों और उन लोगों तक पहुँचाते हो, जिन्हें तुम जानते हो। तुम उनकी सहायता करते हो कि वे यह जानें कि उनका जीवन भी बहुत अनमोल है। इस संसार को तुम्हें बहुत कुछ देना है, और दूसरों के लिए भी यही सत्य है। अतः तुम उन्हें यह बता सकते हो कि वे जो कुछ भी करते हैं, उसका बहुत महत्त्व है; चाहे वह दीखने में छोटा ही क्यों न हो, कालान्तर में वह फलीभूत होगा। तुम जो भी अच्छा कार्य करते हो, यद्यपि वह कितना ही छोटा लगे, उसका प्रभाव चिरस्थायी होगा।

एक बार फिर बड़े प्रेम व सन्मान से सबका हार्दिक स्वागत।

सद्गुरुनाथ महाराज की जय!

अन्तर्जिज्ञासुओं की समष्टि

प्रह्लाद चौधरी

संस्कृत में दो शब्द हैं: व्यष्टि और समष्टि। व्यष्टि का अर्थ होता है वैयक्तिकता। समष्टि जो वैयक्तिक इकाइयों का समूह है और सम व अष्टि शब्दों के योग से बना है। सम का अर्थ है समान और अष्टि अर्थात् कला। समष्टि का एक अर्थ समुदाय भी होता है। अतः समष्टि उन एक समान कलाकृतियों के समूह को कहा जाता है जिनमें एक जैसे गुणधर्म पाये जाते हैं और जिनका उद्भव एक ही स्रोत से हुआ है।

सभी मानवों का उद्भव एक ही शक्ति से, एक ही स्रोत से हुआ है और सभी एक समान हैं—रहन-सहन, खान-पान एवं कार्य करने के ढंग में, आदि। सो, हम सब एक समान व्यष्टियाँ हैं जो एक मानव समष्टि का निर्माण करते हैं। किन्तु मानव के अन्दर स्वार्थ भावना घर कर जाती है और वह यह भूल जाता हैं कि वह एक समुदाय का अंग हैं और केवल स्वार्थपूर्ति के लिए कार्य करने लगता है।

जिज्ञासुओं की समष्टि—एक ऐसा समुदाय जो कुछ खोज रहा है। वैसे तो हर कोई कुछ न कुछ खोज रहा है, चाहे वह वैज्ञानिक खोज हो, व्यवसायिक अथवा राजनैतिक। किन्तु यहाँ खोज से तात्पर्य है, अपने उस केन्द्र की खोज, जहाँ से हमारा उद्भव हुआ है; उस परम सत्ता की खोज, जो व्यष्टि और समष्टि के परे है। इस खोज में, सर्वप्रथम, हम अपने शरीर के अन्दर झाँकते हैं। अन्तर में क्या घट रहा है? ग्यारह इन्द्रियाँ—पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन, कौन-सा खेल, खेल रहे हैं?

वास्तविकता तो यह है कि ये सभी अन्य कुछ नहीं, एक प्रकार के जिज्ञासु ही हैं। हरेक की कुछ न कुछ जिज्ञासा है और यह जिज्ञासा तब तक शान्त नहीं होती, जब तक वे अपने स्वभाव को प्राप्त नहीं कर लेते।

हमारे नेत्र कुछ देखना चाहते हैं। वे देखना चाहते हैं, उस परम मनोहर रूप को, जिसे वे इस पृथ्वी पर अवतरित होने से पूर्व देखते थे। किन्तु हम उन्हें इधर-उधर के झूठे दृश्यों में उलझा देते हैं। क्या इससे उनकी जिज्ञासा शान्त होती है?

हमारे कर्ण कुछ सुनना चाहते हैं। जो शाश्वत है, जो परमानन्द प्रदाता है, उस ॐ कार नाद का श्रवण करना चाहते हैं। और हम हैं कि उन्हें कभी फिल्मी गीतों में उलझा देते हैं, या कुछ ऐसा सुनने में लगा देते हैं जो अर्थहीन है, आनन्द विहीन है।

हमारी जिह्वा नित्य ही परम अमृत का पान करती थी, वह वही स्वाद

पाना चाहती है। वह चाहती है कि सतत भगवन्नाम का उच्चारण करे। किन्तु हम उसे बाहरी भोजन में या इधर-उधर की बातों में व्यस्त रखते हैं। दिन प्रतिदिन, सालों-साल और जन्म-जन्मान्तर तक हम व्यर्थ का वार्तालाप करते ही रहते हैं। पर क्या इससे जिह्वा की जिज्ञासा शान्त होती है?

घ्राणेन्द्रिय का भी यही हाल है। वह उस परम सुगन्ध का अनुभव पाना चाहती है जो दिव्य, अविस्मरणीय है। यद्यपि हमें उस सुगन्ध की विस्मृति हो गयी है, किन्तु हमारी घ्राणेन्द्रिय में अब भी उसका नशा है। पर हम उसे बाह्य सुगन्धित पदार्थों में उलझा कर उसकी जिज्ञासा का काम-तमाम कर देते हैं।

हम भगवान का सुकोमल स्पर्श चाहते हैं, किन्तु भ्रमवश हम उसे बाह्य विषयों में खोजने लगते हैं। खोजते-खोजते जीवन बिता देते हैं; स्पर्शेन्द्रिय की स्पर्श क्षमता को नष्ट कर देते हैं। किन्तु क्या हमें समाधान मिलता है?

हमारा मन जो शास्त्रों के अनुसार भगवती चिति का संकुचित रूप है, वह अपने को भगवान के विचारों में लय कर देना चाहता है। वह चाहता है कि उसका अपना अस्तित्व ही न रहे, केवल परम आनन्द शेष रहे। किन्तु हम उसे यह अच्छा है, वह बुरा है, आज इसके पीछे तो कल किसी और के पीछे लगा देते हैं। उसके ऊपर विचारों के पुलन्दे के पुलन्दे लाद देते हैं। बेचारा! कैसे तनावग्रस्त नहीं होगा? वह व्यग्र हो जाता है, और उसका स्वभाव जो स्थिर-शान्त है, चञ्चल एवं अशान्त हो जाता है।

ये सभी हमारे अन्तर्जिज्ञासु हैं, जो समाधान पाना चाहते हैं, परम आनन्द का अनुभव चाहते हैं। यद्यपि उस आनन्द को अनुभव करने का सभी का तरीका अलग है, तथापि सभी वही पाना चाहते हैं, अतः यह जिज्ञासुओं की एक समष्टि है। चिन्तन का विषय यह है कि इन अन्तर्जिज्ञासुओं की इस दुर्दशा का कारण क्या है? हमारा मन। किन्तु भगवान कृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं, **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।** *"इन्द्रियों में मैं मन हूँ और सभी भूतों में व्याप्त चेतना, जीवनशक्ति मैं ही हूँ।"* सो, हमारा मन एवं इन्द्रियाँ भगवान हैं, तो वे बहिर्मुखी क्यों हैं, इतने कष्टकारी क्यों हैं?

एक बच्चे का जन्म होता है। वह कितना कोमल, मृदुल और निर्मल होता है! उसका मन कितना स्वच्छ होता है! है ना? क्योंकि उसमें भगवान के स्वभाव की वास्तविकता, और पावनता विद्यमान रहती है। बच्चा भगवान है, पर माँ उसे दूसरा ही पाठ पढ़ाती है—बाह्य संसार का, भटकाव का। वह कभी उसे शैतान कहती है, तो कभी मूर्ख। वह उसे सिखाती है कि अमुक लोग अपने घरवाले हैं, और वे दूसरे बाहरवाले। ये मित्र हैं और वे शत्रु। ऐसा करने से पुण्य मिलता है और वैसा करने से पाप।

सो, बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, हम उसे उस ज्ञान का पाठ पढ़ाने लगते हैं, जिसे हमने अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु अपना लिया है। बस

यहाँ से कहानी शुरू हो जाती है, हमारी बहिर्मुखता की। हमारे मन में द्वैतभाव की नींव पड़ जाती है। हमारा जो स्वभाव है, भगवान का स्वभाव, उस पर बाह्य संसार का मुलम्मा चढ़ने लगता है और हम अपनी वास्तविकता से दूर चले जाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ अज्ञान के नशे में धुत्त हो, अपनी स्वाभाविकता खो देती हैं और वे आत्मानन्द को बाह्य विषयों में खोजने में लग जाती हैं। यहाँ से सभी अपने-अपने स्वार्थ सिद्ध करने में लग जाती हैं। नेत्र जो जी में आता है देखते हैं। मन के विषय में सोचने की उन्हें क्या पड़ी है, उसका जो हो, वह हो। कान भी जो इच्छा होती है, वही सुनते हैं। बस, सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त हो जाते हैं।

समष्टि का स्थान व्यष्टि ने ले लिया। लगता तो यह है कि वे काफी स्वतन्त्र हैं और आनन्द में भी हैं, किन्तु स्थिति इसके विपरीत होती है। सभी अज्ञान के भ्रम में पड़ कर अपने स्वस्वभाव को, परम आनन्द को, बाह्य विषयों में, अन्यत्र खोजने लगते हैं। हमारी अवस्था एक ऐसे भिखारी के सदृश हो जाती है, जो पारस पत्थर पर बैठा है और भीख माँग रहा है। क्यों? क्योंकि वह अज्ञान में है। फिर, एक दिन उस पर भगवान की कृपा होती है। एक साधु घूमते-फिरते उसके द्वार पर आता है और उससे कुछ भोजन की माँग करता है। भिखारी अपनी बेबसी पर रोने लगता है। पहले तो उस संन्यासी को बड़ा दुख होता है, उस भिखारी की दुर्दशा देख कर। किन्तु अचानक उसकी आँखें प्रकाशित हो उठती हैं और वह अट्टहास करने लगता है। भिखारी बड़े ही आश्चर्य और कौतूहल से पूछता है, 'क्या हुआ? आप क्यों हँस रहे हैं?' साधु कहता है कि मुझे तुम्हारी दशा पर रोना आ रहा था। किन्तु मैंने देखा कि तुम तो खजाने पर बैठे हो। जानते हो, तुम जिस पत्थर पर बैठे हो वह कोई साधारण पत्थर नहीं है, पारसमणि है। उस भिखारी को विश्वास कराने के लिए उन्होंने लोहे का टुकड़ा उस मणि से छुआ दिया और वह तुरन्त ही सोना बन गया। बस भिखारी महाराजा बन गया।

अन्ततः हम पर भी एक दिन भगवान कृपा कर देते हैं और हम अनायास ही श्रीगुरु के अनुग्रह-क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। श्रीगुरु की कृपादृष्टि हमारे अन्तर्जिज्ञासुओं पर पड़ती है, जो सदियों से निर्जीव और असहाय हो कर भ्रमजाल में पड़े चीख रहे हैं। श्रीगुरु को उनकी मूर्खता और अज्ञानता पर तरस आ जाता है और वे उनके भ्रम को दूर करने के लिए उन्हें आत्मानन्द का एक ज्वलन्त एवं तीव्र अनुभव करा देते हैं। और, हमारी इन्द्रियों के साथ महान चमत्कार हो जाता है। वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं, उनका भिखारीपन मिट जाता है। अब वे आत्मानन्द को फिर से पाने का उद्यम करने में लग जाती हैं, आध्यात्मिक मार्ग पर चल पड़ती हैं।

किन्तु बात यहाँ पूरी नहीं हो जाती। अन्तर्जिज्ञासुओं की यह समष्टि, जो बहुत लम्बे समय से दिग्भ्रमित थी, इतनी सरलता से अन्तर्मुखी नहीं होती। सो, हमें क्या करना चाहिये? इसका क्या उपाय है?

हाँ! भगवान कहते हैं, इन्द्रियों में मैं मन हूँ। सो, मन सभी का अधिष्ठाता है। इसे हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि एक दिव्य रथ है जिसमें दस तेजस्वी घोड़े जुते हुए हैं और एक तेजस्वी रथवान उस रथ को चला रहा है। वह रथवान है हमारा मन और सभी इन्द्रियाँ घोड़े हैं, जिनकी लगाम मन के हाथों में है। इसलिए शेष इन्द्रियाँ मन के आधिपत्य में कार्य करती हैं। वे सब मन की हाँ में हाँ मिलाती रहती हैं। इसीलिए, यदि हम केवल मन का परिष्कार कर लें, उसे स्थिर-शान्त बना लें, उसे अपने नियन्त्रण में ले लें, तो काम बन जायेगा। सभी शास्त्रों के अनुसार सभी प्रकार की योग-साधनाओं का तात्पर्य मन की प्रशान्ति से ही है।

हम पर तो श्रीगुरु का वरद्हस्त है। सो, यह विलक्षण संयोग है और हमारा परम सौभाग्य है कि हमें अधिक कुछ सोचना नहीं है। केवल श्रीगुरु के बताये मार्ग पर चलना है। श्रीगुरु बड़े करुणावान एवं दूरदर्शी हैं और उन्हें ज्ञात है कि हमारे लिए क्या उपयोगी है। इसीलिए उनका सन्देश, *स्वर्णिम मन, स्वर्णिम जीवन* बड़ा ही सारगर्भित है। श्रीगुरुमाई हमें मन को स्वर्णिम बनाने के लिए, श्रीभगवद्गीता में वर्णित पाँच तपश्चर्याओं, *मन की प्रशान्ति, सौम्य, मौन, आत्म-संयम और आत्म-शुद्धि,* का स्वर्णिम पथ दिखा रही हैं।

सो, श्रीगुरु का बताया मार्ग हमारे सम्मुख है। श्रीगुरु-प्रदत्त सिद्धयोग संघ के हम सदस्य हैं। बस, हमें पूरी श्रद्धा और लगन से इस पथ का अनुसरण करना है। पूरी तत्परता से इन सभी तपों को करते हुए अपने मन को स्वर्णिम बनाने के लिए सजग प्रयत्न करते रहना है। साथ-साथ हमें यह भी ध्यान में रखना है कि हम एक समुदाय के सदस्य हैं, इसलिए हम दूसरों का हित ही करें, चाह कर भी किसी का अहित न हो। इससे जैसे-जैसे हमारा विकास होगा, वैसे-वैसे हमारा संघ भी विकसित होगा। और तब हमारा समुदाय कोई साधारण समुदाय नहीं रहेगा, सत्य के मुमुक्षुओं का संघम् बन जायेगा। फिर हम बड़े ही आत्म-विश्वास से यह श्लोक गा सकते हैं:

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

"परमात्मा हमारी एक साथ रक्षा करें। हमारा साथ-साथ पोषण हो। हम साथ-साथ पराक्रम करें। हमारा ज्ञान तेजयुक्त हो। हम कभी विद्वेष न करें।"

प्रह्लाद चौधरी, अनेकों वर्षों से गुरुदेव सिद्धपीठ में अपनी सेवा अर्पित कर रहे हैं। वे नीलेश्वरी विभाग में अपना अनुपम योगदान देते हैं।

सत्संग की महिमा

'कौन हो भाई? तुम रात्रि के इस अन्धकार में मुझे भयानक रूप दिखा रहे हो! तुम कौन हो? तुम्हारी यह बुरी दशा कैसे हुई? किसने तुम्हें इस दशा में पहुँचाया है? बताओ। मैं तुम्हारे लिये क्या कर सकता हूँ?'

तभी एक भयंकर चीत्कार के साथ रोने की आवाज आने लगी। गोकर्ण ने अभिमन्त्रित जल उस आत्मा पर छिड़का, जिससे उसे कुछ शान्ति प्राप्त हुई और उसने कहा, 'मैं तुम्हारा भाई धुन्धुकारी हूँ और अपने कुकर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से गिर कर प्रेत योनि में पड़ा महान दुख और दुर्दशा भोग रहा हूँ। आप महान हैं, दया के सागर हैं, कृपा करके मुझे इस दुखद योनि से मुक्त करा दीजिये।'

कहानी इस प्रकार है। एक धनी ब्राह्मण बड़ा ज्ञानी और सुखी था। परन्तु वह निःसन्तान था और पुत्र की प्राप्ति के लिए हर सम्भव प्रयत्न करके निराश हो चुका था। एक दिन वह एक महान सन्त के दर्शन को गया और पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना करने लगा। महात्मा ने कहा कि अगले सात जन्मों तक तुम्हें सन्तान प्राप्त नहीं होगी। इस पर वह ब्राह्मण सन्त के सम्मुख ही प्राण त्यागने को तत्पर हो गया। महात्मा जी को दया आ गयी और उन्होंने ब्राह्मण को एक फल दिया और कहा कि इसे अपनी पत्नी को खिला देना। तुम्हें सन्तान प्राप्त हो जायेगी।

ब्राह्मण बड़ा प्रसन्नचित्त हो कर घर आया और वह फल पत्नी को दे कर कहा कि इसे खा लो, हमें पुत्र प्राप्त होगा। ब्राह्मण की पत्नी धुंधुली बड़ी तामसी प्रवृत्ति की थी। उसने सोचा कि स्नान करो, पूजा करो और फिर यह फल खाओ और फिर आगे भी कष्ट ही होगा। अतः उसने वह फल गाय को खिला दिया।

कुछ महीने के पश्चात गाय ने एक सुन्दर एवं तेजस्वी मनुष्य रूपी बच्चे को जन्म दिया। उस बच्चे के कान गाय के समान थे, इसलिये वह गोकर्ण कहलाया। पर, तब तक तो धुंधुली ने अपनी बहन के बच्चे को ले लिया था जिसका तभी जन्म हुआ था। और ब्राह्मण से यह कह दिया कि यह मेरा बच्चा है। इसलिये पुत्र का नाम धुन्धुकारी पड़ा।

गोकर्ण बड़ा धर्मवान एवं पण्डित बना और बड़ा होने पर धुन्धुकारी ने तामसिक विचारों, अत्याचारों, दुर्व्यवहारों व दुष्टतापूर्ण कार्यों से पिता की पूरी सम्पत्ति स्वाहा कर दी। दुखी ब्राह्मण पिता एक दिन घर छोड़ कर वन में चले गये। धुन्धुकारी हर बुरी संगति करता था—चोरी, डकैती और वेश्या गमन। अन्त में उन वेश्याओं ने धुन्धकारी को कष्ट एवं प्रताड़ना दे दे कर मार डाला और वह प्रेत बन गया।

महात्मा गोकर्ण ने प्रेत की सारी बातें ध्यान से सुनीं और कहा कि

अभी रात्रि हो गयी है अतः तुम विश्राम करो, मैं प्रातः कुछ उपाय करूँगा। गोकर्ण रात भर सोचते रहे। प्रातः होते ही उन्होंने सूर्य देव की उपासना की। गोकर्ण की प्रार्थना से प्रसन्न हो कर सूर्य नारायण ने उन्हें बताया कि *श्रीमद् भागवतम्* का पारायण करो।

सूर्यदेव की आज्ञानुसार गोकर्ण ने सभी दिशाओं में भागवत सप्ताह की सूचना भेज दी और सहस्रों लोग उस कथा को सुनने आये। एक वैष्णव ब्राह्मण को मुख्य श्रोता बनाया गया और गोकर्ण जी व्यास गद्दी पर बैठ कर कथा कहने लगे। इधर वायु रूप में वह प्रेत भी अपने लिए स्थान ढूँढ़ने लगा। एक सात गाँठ का बाँस वहाँ खड़ा था, वह उसी के अन्दर प्रविष्ट हो गया। इस सत्संग-समागम में सभी प्रकार के भक्त लोग एकत्र हुए थे। सन्ध्या समय प्रथम दिन प्रथम स्कन्ध सम्पूर्ण हुआ और तभी बड़ी अनोखी और विचित्र घटना घटी। सभी के देखते-देखते उस बाँस की एक गाँठ तड़तड़ाकर फट गई। अब यह क्रम हर रोज होने लगा। हर सन्ध्या को कथा के समापन पर उस बाँस की एक-एक गाँठ फट जाती।

इस प्रकार सातवें दिन बाँस की सातवीं गाँठ भी फट गयी और उसके साथ ही प्रेत योनि से धुन्धुकारी की मुक्ति हो गयी। वह दिव्य एवं तेजस्वी स्वरूप धारण कर, सभी के सामने प्रकट हुआ। उसने बड़े प्रेम से, सन्मान से, भक्तिपूर्वक गोकर्ण को प्रणाम किया और कहा, 'इस लोक में सप्ताह-श्रवण करने से भगवान की शीघ्र ही प्राप्ति हो सकती है। इससे मनुष्य के हृदय की गाँठ खुल जाती है और उसके सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। यह भागवत कथारूप तीर्थ, संसार के मल को धोने में पूर्णरूप से सक्षम और अनुरूप है।'

तभी एक दिव्य विमान वहाँ उपस्थित हुआ। धुन्धुकारी उस विमान में बैठ गया। यह देख कर श्री गोकर्ण ने विमान में विराजमान विष्णु-पार्षदों से प्रश्न किया, 'हे भगवान के प्रिय पार्षदो! यहाँ इस कथा का सभी ने श्रवण किया है, सभी शुद्धहृदय भक्त हैं, तो आप इन सभी के लिये विमान क्यों नहीं लाये? इस प्रकार का भेद-भाव क्यों हुआ?'

भगवान के पार्षद बोले, "हे महात्मन्, इस फल-भेद का कारण इनके श्रवण का भेद ही है। सभी भक्तों ने कथा का श्रवण किया अवश्य है, पर कथा का मनन इसके जैसा नहीं किया। इस प्रेत ने सात दिनों तक निराहार रह कर कथा सुनी और फिर स्थिर चित्त से मनन-चिन्तन किया। समुदाय के दूसरे लोग शारीरिक रूप से तो कथा सुन रहे थे, किन्तु मन कहीं और भटक रहा था अर्थात् एकाग्रता नहीं थी। जो ज्ञान दृढ़ नहीं होता, वह व्यर्थ हो जाता है। इसलिये ध्यान न देने से श्रवण का, सन्देह से मन्त्र का, और चित्त के इधर-उधर भटकने से जप का, कोई फल नहीं होता।"

— *'श्रीमद्भागवतम्'* से

स्वर्णिम मन, स्वर्णिम जीवन

अपने मन को बार-बार आत्मा में लगाते रहो। वास्तव में, तुम ब्रह्म हो, वह दृष्टा हो, जो मन से मुक्त है, केवल एक है, अद्वैत है और परमोच्च है।

अपने मन को अपने लक्ष्य, ब्रह्म, पर स्थिर कर दो... उसकी भक्ति में पूर्णतः निमग्न हो जाओ और यह जान लो कि तुम और ब्रह्म एकरूप हो। ब्रह्म के आह्लाद का निरन्तर पान करो।

अपने मन को किसी ऐसे विचार में मत रमने दो जो आत्मा नहीं है।...उस आत्मा का ध्यान करो, जिसका स्वभाव ही आनन्द है। मुक्ति पाने का यही मार्ग है।

स्वप्रकाश से देदीप्यमान आत्मा, सभी का दृष्टा, तुम्हारे हृदय में सदा से विद्यमान है। जो कुछ असत्य है, उस सबसे आत्मा परे है। यह जान लो यह तुम्हारा अन्तरात्मा है और सतत इस पर ध्यान दो।

आत्मा के साथ अबाध्य योग स्थापित होने दो। जो सभी विचलित करनेवाले संवेगों से रहित है। इस प्रकार, तुम जान जाओगे कि निस्सन्देह आत्मा तुम्हारा सत्य स्वभाव है, वास्तविक प्रकृति है।

इस सत्य में दृढ़ हो जाओ कि तुम आत्मा हो। अपने को अहम् मानने के भाव को त्याग दो।...

अपने परिष्कृत एवं विशुद्ध मन को आत्मा पर केन्द्रित करो जो दृष्टा है, विशुद्ध चेतना है। अपने मन को शान्त एवं स्थिर करने का अनवरत प्रयास करते रहो। तब तुम्हें अनन्त एवं शाश्वत आत्मा का दर्शन होगा।

— *'विवेक चूड़ामणि'* से

शिक्षाओं का मेला

ज्योति अग्रवाल

हाल ही में गुरुदेव सिद्धपीठ में सिखावनियों का एक अद्भुत शिविर सम्पन्न हुआ, जिसका शीर्षक था—विद्या मेला। जब मैंने सुना कि इसे 'विद्वानों का मेला' भी कहा जाता है, तो मैं थोड़े संशय में पड़ गयी और मैंने सोचा कि मुझे तो इतना ज्ञान नहीं है, मैं कैसे इसमें सहभागी बनूँगी। इसी असमञ्जस के साथ मैंने कोर्स में भाग लिया।

पहले दिन जब मैं गयी तो श्रीगुरुकृपा का आह्वान कैसे करें, इस विषय पर चर्चा हुई। मैं सोच रही थी, यदि श्रीगुरु की शक्ति, उनकी कृपा, सतत साथ है, तो फिर कृपा का आह्वान क्यों? मैं अपने इस प्रश्न में उलझी थी, तभी समूह चर्चा के निदेशक के सामने मैंने अपना प्रश्न रखा। उन्होंने मेरा समाधान करते हुए कहा, 'श्रीगुरुकृपा सतत है इस जागरूकता को बनाए रखने के लिए ही हम कृपा का आह्वन करते हैं।'

उस समय मैंने वक्ता की बात यूँ ही सुन ली। किन्तु जब दूसरे सत्र के प्रारम्भ में मैंने इसे आजमाना चाहा, तो अनुभव किया कि वास्तव में यह शक्ति कार्य करती है। और इसे अधिक व्यवहारिक बनाने के लिए एक तरीका भी खोजा। वह यह था कि अब हम प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक अवस्था में, स्वयं को इस बात में प्रतिष्ठित कर देते हैं कि यदि इस समय गुरुमाईजी भौतिक रूप से मेरे साथ होतीं तो मैं किस प्रकार व्यवहार करती? यह प्रक्रिया मैंने न सिर्फ बड़े स्तर पर ही नहीं बल्कि छोटे स्तर पर भी लागू की। जैसे खाना खाते समय श्रीगुरुमाई की उपस्थिति का अनुभव करना, किसी से बात करते समय या फिर रास्ते पर चलते समय। मैंने पाया कि मुझे इससे बहुत लाभ पहुँचा और इस प्रकार प्रत्येक क्षण में मैं श्रीगुरुमाई के निकट होने का अनुभव कर सकी।

विद्या मेला मेरे सामने श्रीगुरुमाई का एक सुन्दर उपहार बन कर उपस्थित हुआ, जो अनमोल था और जिसने सम्पूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया को सुन्दरता से पूरा किया।

अगले दिन गुरुभक्ति विषय पर चर्चा हुई, जिसमें स्वार्थरहित भक्ति के विषय में गूढ़ वार्ता हुई। इस सन्दर्भ में एक स्थान पर बाबाजी के शब्द सुने, "जब तक साधना में इच्छा बनी रहेगी, तब तक दुख बना रहेगा।" मैंने अनुभव किया कि हाँ, वास्तव में इस बात में कितनी गहराई है, यह कितना सच है कि हम ही अपने दुखों का कारण हैं और जब कभी हम प्रार्थना में

कोई इच्छा रखते हैं तभी से यह भय हमें कष्ट पहुँचाने लगता है कि हमारी प्रार्थना पूर्ण होगी या नहीं। हालाँकि अन्तर से की गयी प्रार्थना हमेशा ही पूर्ण होती है, लेकिन हमें कष्ट भी पहुँचाती है। इस सत्र से मेरी समझ में यह विकास हुआ कि मेरी भक्ति निष्काम भक्ति होनी चाहिए। भगवान के साथ कैसा व्यापार? यदि मैं, अपने और श्रीगुरु के बीच खड़ी अपनी नश्वर इच्छाओं की दीवार को तोड़ दूँ तो मुझमें और भगवान में कहीं कोई दूरी नहीं होगी।

तीसरे दिन एक बहुत ही सुन्दर कार्यक्रम हुआ। इस कार्यक्रम ने तो सभी को पूरे उत्साह से भर दिया। सभी के चेहरे किसी एक नयी समझ की खोज में चमचमा रहे थे। यह था वाद-विवाद कार्यक्रम, जिसका विषय था — साधना में तीव्रता लाने के लिए स्वप्रयत्न और कृपा दोनों में से कौन-सा अधिक महत्त्वपूर्ण है? मेरे समूह को स्वप्रयत्न का विषय मिला। जब मैं अपनी वार्ता तैयार कर रही थी, तो मुझे लगा कि सच में स्वप्रयत्न कितना आवश्यक है। यदि प्रयत्न नहीं करेंगे तो क्या हम कुछ भी प्राप्त कर पायेंगे? ऐसा नहीं था कि यह मेरा विषय था, इसलिए मैंने इसे अधिक महत्त्व दिया; बल्कि यह सच है कि जब तक हम अपनी झूठी समझ के साथ रहेंगे और यही सोचते रहेंगे कि कृपा सब कुछ करेगी तो हम स्वयं को भुलावे में रखेंगे। यह ठीक है कि कृपा के बिना कुछ भी सम्भव नहीं, किन्तु प्रयत्न को अलग रखना और कृपा के भरोसे बैठे रहना, यह निरी मूर्खता है। अन्त में, निष्कर्ष में यही कहा गया कि कृपा और स्वप्रयत्न एक पक्षी के दो पंख हैं, जिसमें कृपा का पंख तो सतत फड़फड़ा ही रहा है। यदि उसी गति से स्वप्रयत्न का पंख भी फड़फड़ाये तो मनुष्यरूपी पक्षी क्या कुछ प्राप्त नहीं कर सकता! अर्थात् सभी कुछ सुलभ हो सकता है।

इसके बाद हमें श्रीगुरु-दर्शन और गलत समझ पर रचनात्मक रूप से गहन शिक्षा दी गयी। कभी-कभी हम अपनी गलत समझ के कारण अन्य व्यक्तियों को ऐसी दिशा में भटका देते हैं, जिसमें न तो सूर्य का प्रकाश पहुँच सकता है, न ज्ञान का ही, और अन्त तक उसका कोई लक्ष्य भी नहीं होता। बस वह यूँ ही चलता चला जाता है...

'विद्या मेला' के अन्तर्गत जो एक बात मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रही, वह थी सुनना, दूसरों की बात को सुनना। क्या यह विचार का विषय नहीं है कि हम दूसरों को कितना सुनते हैं? और जब हम अन्य व्यक्ति की बात को सुनते हैं, तो वास्तव में उसे कितना सुनते हैं और हमारा कितना ध्यान हमारे अन्दर चल रहे विचारों पर होता है। जैसे मानों हम किसी प्रश्न में उलझे हैं और भगवत्कृपा से हमें एक ऐसा व्यक्ति मिल जाता है, जो उस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देने में समर्थ है। वह हमें समझाता भी है, किन्तु हमें सन्तुष्टि नहीं मिलती। क्यों? क्योंकि हम अपने प्रश्न के शब्दों में इतने उलझे

रहते हैं कि जो कुछ भी हमारे समाधान के लिए कहा जाता है वह हमें सन्तुष्ट नहीं कर पाता। यदि इसी क्षण हम शान्त भाव से अपने विचारों का, समर्पण करके एकाग्रचित्त हो कर दूसरे की बात को सुनें तो वह निश्चित ही किसी सीमा तक हमें समाधान दे सकता है। मैं भी पहले यही करती थी। बल्कि मैं तो दूसरों की बात को जब भी सुनती थी तो मेरा उद्देश्य होता था कि उनकी कही बातों में कमियों को ढूँढ़ना। इस तरह मैं इसी विषय में स्वयं को इतना संलग्न कर लेती थी कि परिणामतः मैं पूरी तरह उसकी बात को सुन ही नहीं पाती थी। इसका निष्कर्ष होता — असन्तुष्टि, असमाधान। किन्तु विद्या मेला के इस सत्र से मैंने अपने में बहुत परिवर्तन अनुभव किया। मैंने यह जाना कि वास्तव में सुनना क्या होता है। गुरुमाईजी ने इस विषय पर कहा है, *"जब आप किसी को सुनें तो हाथी के कानों और सिंह के हृदय से सुनें।"* इन शब्दों से मुझे समझ मिली कि जब मैं दूसरों को सुनूँ तो मन को केन्द्रित करके, हृदय की गहराई से, स्वयं के विचारों का समर्पण करके, पूरी तरह सुनूँ।

ज्योति अग्रवाल, इलाहाबाद की प्रतिभाशाली युवा हैं। वे वाणिज्य में स्नातक की तृतीय वर्ष की छात्रा हैं। कविताएँ लिखने में उनकी विशेष अभिरूची है।

हमारी साधना एक दर्पण के समान है, जिसमें हम अपने गुण-दोष, उत्कर्ष-अधोगति आदि का अवलोकन कर सकते हैं। नियमित साधना के द्वारा ही हमें अपने जीवन में उपस्थित श्रीगुरुकृपा का बोध हो सकता है।

मैंने अपनी साधना तथा उससे जीवन में आये बदलाव का अवलोकन किया, तो देखा कि पहले मुझे मूर्तिपूजा, फूलों की माला बनाना, सजाना, धूप-दीप करना, नैवेद्य अर्पित करना आदि में अधिक रुचि थी। धीरे-धीरे मैंने देखा कि मुझे मानसपूजा में अधिक रुचि होने लगी है। स्थूलरूप से तो मैं पूजा करती हूँ, परन्तु मानसिक रूप से उसका आनन्द मुझे सतत स्मरण रहने लगा है। अभी एक और बात मेरे ध्यान में आयी कि अब मुझे श्वास-प्रश्वास के साथ मन्त्र-स्मरण करने में रुचि उत्पन्न हो गयी है। इतना ही नहीं बल्कि मन्त्र-जप की यह क्रिया अपने आप स्वयं ही होने लगती है।

इस अवलोकन से एक बात के लिए मैं निश्चिन्त हो गयी कि श्रीगुरुकृपा सदैव मेरे साथ है और यही कृपा मेरी साधना में मुझे मदद कर रही है। यहाँ का प्रत्येक कदम प्रगति का लक्षण है। यहाँ नित-निरन्तर प्रगति ही प्रगति, उत्कर्ष ही उत्कर्ष है। ***—सौ. माधवी देशपाण्डे, भुसावल***

दैनिक चिन्तन

ये चिन्तन-बिन्दु यहाँ इसलिए प्रस्तुत किये जा रहे हैं कि आप प्रतिदिन कुछ क्षण महान आध्यात्मिक परम्पराओं की शिक्षाओं पर मनन करें। उस दिन का चिन्तन प्रातःकाल पढ़ें। सन्ध्या समय दिनभर की घटनाओं को पुनः इस दृष्टि से देखें कि उन पर आपके चिन्तन की प्रेरणा का क्या प्रभाव पड़ा है।

१

यदि तुम श्रद्धावानों की संगति करते हो,
तो तुम्हारी श्रद्धा और भी दृढ़ हो जाती है। — *बाबा मुक्तानन्द*

२

एक जिज्ञासु उनके प्रेम की परिधि में रहने में आह्लादित होता है,
जो ईश्वर की कृपा का उत्साह मनाते हैं।
ऐसे लोगों की संगति प्राप्त होना जीवन की एकमात्र अभिरुचि है।
ईश्वर को जानना और उनकी सेवा करना
महान सद्भाग्य की बात है। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

३

केवल वे लोग एक-दूसरे में प्रेम बढ़ा सकते हैं
और एक साथ आनन्द से रह सकते हैं,
जो जीवन के सभी कार्यकलापों के मध्य में
भगवान को रखते हैं। — *बाबा मुक्तानन्द*

४

उन लोगों की संगति करो,
जिनका सान्निध्य अच्छाई को प्रोत्साहित करता है। — *ज्ञानेश्वर महाराज*

५

उनकी खोज करो जिन्होंने स्वयं को ईश्वर को अर्पित कर दिया है। ऐसे जन वास्तव में ईश्वर के प्रकाश की प्रतिमूर्ति होते हैं। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

६

यह बोध होना कि 'इस संघ के समस्त जन मैं हूँ'
संघ में शरण लेना है, सिद्ध के संघ में शरण लेना है।
पूर्ण एकत्व की भावना के साथ
सिद्धयोग संघम् में शरण लो। — *बाबा मुक्तानन्द*

७

सदा उनकी संगति में रहो, जिनकी कृपा से हम
अपनी आध्यात्मिक यात्रा को निर्विघ्न पूरा कर सकेंगे। — *बाबा मुक्तानन्द*

८

तुम्हारी संगति तुम्हें ईश्वर के निकट लानेवाली होनी चाहिए।
जो संगति तुम्हें प्रिय है,
उसे तुम्हें अपने हृदय के अमृत में स्नान करने देना चाहिए,
उससे तुम्हें आनन्द मिलना चाहिए। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

९

कुण्डलिनी लोगों में परस्पर सौहार्द की भावना को जन्म देती है। वह हमें परस्पर एक - दूसरे में देवत्व की अनुभूति कराती है और हम अपने पति - पत्नी में, अपने मित्रों व पड़ोसियों में, अपने बच्चों व अपने माता - पिता में, भगवान को देखने लगते हैं। — *बाबा मुक्तानन्द*

१०

आत्मा समस्त जीवों का प्रभु है, समस्त जीवों का राजा है। जिस प्रकार से एक पहिये में, समस्त तीलियाँ एक ही केन्द्र में, एक साथ संगठित होती हैं, उसी प्रकार समस्त जीव, समस्त जन्तु, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त अस्तित्व, आत्मा द्वारा संगठित हैं। — *बृहदारण्यकोपनिषद्*

११

नर - नारी के समुदाय में, संसार में, एक आत्मा का ही विलास है,
दूजा नहीं। — *बाबा मुक्तानन्द*

१२

अन्य, वास्तव में अन्य नहीं हैं। वे हम ही हैं। — *बाबा मुक्तानन्द*

१३

अच्छी संगति तुम हो, अन्य कोई नहीं।
तुम अच्छी संगति को खोजने के लिए कहीं और नहीं जा सकते;
तुम्हें स्वयं अच्छी संगति बनना होगा। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

१४

यदि हरेक अपनी आत्मा को जान ले, तो वह भयरहित हो कर
ऐसे आनन्द से रहेगा जैसे एक परिवार में रह रहा हो।
उसे इस ज्ञान की प्राप्ति होगी कि
यह विश्व ईश्वर का परिवार है। — *बाबा मुक्तानन्द*

१५

यद्यपि निर्मित वस्तुओं का भिन्न - भिन्न रूपाकार है,
तथापि वे एक ही स्वर्ण, शाश्वत आत्मा, से बनी हैं। — *ज्ञानेश्वर महाराज*

१६

हरेक तुम्हारा अपना परिवार है,
हरेक तुम्हारा अपना परिजन है,
हरेक तुम्हारी अपनी आत्मा है। — *बाबा मुक्तानन्द*

१७

महान आत्माओं का संग शुद्धिकारक है।
उनके शब्द उत्थानकारी हैं, प्रेरणादायी हैं।
महान आत्माएँ मानवता के लिए एक संरक्षण हैं। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

१८

श्रीगुरु के शब्द, उनका मन्त्र और उनका सान्निध्य, मोक्ष के वाहन हैं।
वे हमें बद्धावस्था से आत्मावस्था तक ले जाते हैं।
वे हमें न केवल आत्मा का अनुभव देते हैं,
प्रत्युत यह भी बोध कराते हैं कि हम स्वयं आत्मा हैं। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

१९

हम हृदय में एक हों। हम वाणी में एक हों। हम मन में एक हों। — *ऋग्वेद*

२०

सत्संग तुम्हें अपने जीवन में कृपा की वर्षा का स्मरण कराता है
और उसका महिमागान करने देता है। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

२१

सत्संग में भाग लो और जो तुम वहाँ सीखते हो, उसका अभ्यास करो।
इस प्रकार से तुम्हारा हृदय शुद्ध हो जायेगा। — *बाबा मुक्तानन्द*

२२

सत्संग जीवन के वैभव को प्रकट करता है। उसका मुख्य उद्देश्य है,
अपने हृदय में ईश्वर को अनावृत करना। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

२३

हम सबके अन्तर में एक अलौकिक स्थान है, जहाँ प्रेम का वास है।
जिस प्रेम का हमें अनुभव होता है वह इसी अन्तर स्रोत से आता है।
क्योंकि प्रेम का हमारे अन्तर में वास है,

इसीलिए हम अपने मित्रों से, अपने परिजनों से,
अपने माता - पिता से और अपने बच्चों से, प्रेम करते हैं। — *बाबा मुक्तानन्द*

२४

हमारा आन्तरिक अनुभव, हमारी अच्छी संगति है,
हमारा सम्बल है, हमारा मित्र है।
जब हम इसमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं,
तब हम दूसरों की भी सहायता कर पाते हैं। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

२५

यदि तुम्हारा मन तुम्हें अच्छी समझ देता है,
तो तुम्हारे जीवन की वह सर्वोत्कृष्ट संगति होगी। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

२६

लोगों के साथ होना, ईश्वर की संगति में रहना है। — *गुरुमाई चिद्विलासानन्द*

२७

हमें यह स्मरण रखना है कि हम चाहे किसी भी देश के हों,
चाहे कोई भी भाषा बोलते हों,
चाहे हमारा कोई - सा भी रंग हो,
चाहे हम किसी भी धर्म के हों,
चाहे हम कोई भी कार्य करते हों,
हम भगवान के परिवार के सदस्य हैं। — *बाबा मुक्तानन्द*

२८

'वसुधैव कुटुम्बकम्' बहुत महत्त्वपूर्ण है।
यह वह बोध है कि समस्त विश्व ईश्वर का कुटुम्ब है। — *बाबा मुक्तानन्द*

२९

अपने लक्ष्य में हम एक हों। अपने संकल्प में हम एक हों।
हम अपनी समझ में एक हों। हम में पूर्णरूप से एकता हो। — *ऋग्वेद*

३०

शैवमत सिखाता है, जिस हर्ष का अनुभव तुम्हें लोगों के बीच रहने से होता है, जिस हर्ष का अनुभव तुम्हें एक समुदाय में रहने से होता है, वह समाधि का अनुभव है। — *बाबा मुक्तानन्द*

गुरुदेव सिद्धपीठ से

अन्तर्दृष्टियों का स्रोत

देवशयनी एकादशी वह पावन दिन है जिस दिन से गहन साधना के समय, चातुर्मास्य का शुभारम्भ होता है। इस अद्भुत समय में सभी कुछ वर्षा की कृपा से हरा-भरा हो उठता है, अनुप्राणित हो जाता है। इस अनुकूल मौसम में धरती के गर्भ में सुप्त पड़े बीज अंकुरित हो जाते हैं, और नवजीवन में पदार्पण करने को आतुर रहते हैं।

यह केवल धरती के गर्भ में ही नहीं होता, वरन् हम सभी के हृदय में भी ऐसा ही कुछ होता है। हृदय में सुप्त पड़ी जिज्ञासा जाग जाती है और हम बड़े ही उत्साह से सत्य की खोज में, अन्तरात्मा के अन्वेषण में, लग जाते हैं। गुरुदेव सिद्धपीठ, गणेशपुरी ऐसा गुरुकुल है जो सत्य की खोज करने में जिज्ञासुओं को सम्बल देता है, उन्हें आश्रय देता है। और उन्हें ऐसी संगति प्रदान करता है जो सत्य के मुमुक्षुओं से भरी हो।

यह आश्रम कृपा का मूर्तरूप है। यहाँ का कण-कण कृपा की वर्षा करने में सक्षम है। जैसे ही हम इस गुरुकुल के मुख्य द्वार में प्रवेश करते हैं, एक अलौकिक आनन्द का अनुभव हमें होता है। क्या है वह! क्या कभी सोचा है आपने? श्रीगुरुमाई इस विषय में कहती हैं, *"गुरुदेव सिद्धपीठ ध्यान की भूमि है। यहाँ ध्यान स्वतः होता है। यह वह स्थान है जहाँ आप अपने अन्तर-तन को पाते हैं। जहाँ आप दूसरों के साथ रहना सीखते हैं। इस स्थान पर रहना मात्र ही भगवान की महिमा गाना है।"*

और यह अनुभव केवल यहाँ रहनेवालों का ही नहीं है वरन् सभी दर्शनार्थियों का भी है। यह दिन-प्रतिदिन और भी तीव्र एवं गहन होता जाता है क्योंकि यहाँ जो कुछ भी किया जाता है, वह समस्त संसार को ध्यान में रख कर किया जाता है। यहाँ के साधक केवल अपने हित साधन के निमित्त ही कार्य नहीं करते, प्रत्युत समूची मानवता के उत्थान के लिए कार्य करते हैं।

यही बाबाजी के मिशन का आधार स्तम्भ है। उन्होंने सिद्धयोग ध्यान के इस मिशन का सूत्रपात तीन महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया: *परस्पर देवो भव, सर्व दुख निवृत्ति* और *परमानन्द प्राप्ति।*

वास्तव में देखा जाये तो, परमानन्द प्राप्ति, सर्व दुख निवृत्ति का मूल है और परस्पर देवो भवः का आधार है। क्योंकि जब एक व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के अनुभव में अवस्थित हो जाता है, तो उसे कोई दुख नहीं रहता, वरन् वह तो परमानन्द के अनुभव में लीन रहता है। सो, सर्वप्रथम प्राथमिकता है अपनी अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित रहना। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर गुरुदेव

सिद्धपीठ आश्रम में होनेवाले दैनिक कार्यक्रमों का निर्धारण किया गया है। और उसकी एक विशेषता यह है कि यहाँ का हरेक कार्यक्रम सामूहिक होता है। चाहे ध्यान हो अथवा नामसंकीर्तन या फिर सत्संग। और इस प्रकार हम सभी सामूहिक ज्ञान द्वारा साथ-साथ प्रगति करते हैं, साथ-साथ आगे बढ़ते हैं।

इस गुरुकुल में समय-समय पर और भी बहुत-कुछ होता है— आध्यात्मिक शिविर, ध्यानशिविर एवं कोर्स, इत्यादि। मई-जून में युवाओं के लिए शिविर हुए। जुलाई माह के आरम्भ में काश्मीर शैवमत के मुख्य ग्रन्थ *प्रत्यभिज्ञाहृदयम्* पर आधारित एक अद्भुत कोर्स का आयोजन किया गया। इसे प्रत्यभिज्ञाहृदयम् अर्थात् आत्मज्ञान का हृदय इसलिए कहा जाता है क्योंकि ऋषि अभिनवगुप्त के गुरु ने आत्मा के विषय में जो कुछ वर्णन किया है, उसके सार तत्व को उन्होंने केवल बीस सूत्रों में ही वर्णित किया है। बाबा मुक्तानन्द कहते थे, *"यदि तुम इन बीस सूत्रों को आत्मसात् कर लो, तो तुम्हें इक्कीसवाँ सूत्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं।"*

इस कोर्स में भाग लेने के लिए भारत के विभिन्न केन्द्रों से बहुत-से भक्तगण भी आये थे। वह जिज्ञासुओं का एक संघ था, जो अपने अन्तर में व्याप्त सत्य को जानने के लिए सिद्धयोग के दो महान विद्वज्जनों प्रो. पॉल म्यूलर एवं प्रो. बिल महोनी के नेतृत्व में काश्मीर शैवमत के इस महान ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे थे। एक प्रतिभागी ने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा, "इस कोर्स में भाग लेने से मेरा द्वैतभाव लुप्त हो गया और उसका स्थान, सभी के प्रति अपनेपन एवं आत्मीयता ने ले लिया। मुझे प्रेम की अनुभूति हो रही थी और सभी सूत्रों पर चिन्तन करने में बड़ा ही मज़ा आ रहा था।"

विद्या मेला— जुलाई माह के दूसरे सप्ताह में गुरुदेव सिद्धपीठ के इतिहास में पहली बार शिक्षाओं के शिविर का आयोजन हुआ। यह एक ऐसा मेला था जिसमें प्रतिभागियों ने सिद्धयोग के स्वामियों एवं विद्वानों के मार्गदर्शन में सिद्धगुरुओं एवं प्राचीन शास्त्रों की, आत्मज्ञान से परिपूर्ण सिखावनियों को बहुत ही सहज और सरल ढंग से आत्मसात् करने की पद्धति सीखी।

एक प्रतिभागी ने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा, "विद्या मेला मुझे अपने बचपन के नर्सरी कक्षा की पढ़ाई जैसा लगा। इसमें हमने हँसते, गाते, बतियाते, अनजाने में ही श्रीगुरु की शिक्षाओं को गहराई से समझा, उन्हें व्यवहार में लाने के उपाय जाने और अपने जीवन में पालने का आत्मविश्वास प्राप्त किया। इसमें मैंने सच में ठीक से सुनना सीखा। सभी लोग इतने उत्साहित थे कि कॉलेज में होनेवाली परीक्षा का वातावरण अनुभव हो रहा था। हमने चित्र बनाये और बहुत ही सार-गर्भित कविताएँ लिखीं। समूह चर्चा के समय यह पूरी

तरह स्पष्ट हो गया कि सिखावनियों के मर्म को समझने व व्यवहार में उतारने की आवश्यकता है। मेरा वर्षों पुराना एक प्रश्न था कि हृदय व मन की आवाज में क्या फर्क है? इसका एक अभ्यास के दौरान स्वयं ही उत्तर मिल गया। कुण्डलाकार प्रगतिशील प्रक्रिया से मुझे यह समझ मिली कि मैं अपने हृदय की आवाज को स्पष्ट सुन सकता हूँ। मैंने यह भी जाना कि मन की आवाज जोर से होने के कारण हम हृदय की मृदुल आवाज को सुन नहीं पाते या फिर मन अन्य विचार उत्पन्न करके हृदय की आवाज को समझने में भ्रम पैदा कर देता है।"

एक अन्य प्रतिभागी ने बताया कि शिविर में उसने उन विविध रीतियों को सीखा जिनके द्वारा वह श्रीगुरु की सिखावनियों को समझ सकती है और उनसे अपने आपको जोड़ सकती है। उसने कहा, "ये रीतियाँ अब मेरे लिए किसी भी विषय, किसी भी परिस्थिति से सम्बन्धित प्रश्नों या समस्याओं पर प्रकाश डालने का एक सशक्त माध्यम बन गयी हैं। यह एक उपाय है, अपने मन की वृत्तियों में फँसे बिना, अपने अन्तर-प्रज्ञान से अपने को जोड़ने का। यह तरीका है, अपने विचारों और कर्मों को श्रीगुरु की सिखावनियों से एकरूप करने का। यह रीति है अपने दैनिक जीवन में श्रीगुरु की शिक्षाओं का अनुशीलन करने की।"

शिविर के अन्तिम सत्र में सभी ने अपने ज्ञान को, चित्रकला, कविता आदि से व्यक्त किया। अनेकानेक अन्तर्दृष्टियाँ, अनेकानेक अनुभव सभी प्रतिभागियों को इस शिविर में हुए।

भारतीय नेतृत्व सम्मेलन—विद्या मेला के समापन के कुछ दिन बाद तीसरे भारतीय नेतृत्व सम्मेलन का आरम्भ हुआ। इसमें भारत के विभिन्न केन्द्रों के लगभग एक सौ बीस सक्रिय सेवाकर्ताओं ने भाग लिया।

गुजरात के तीन केन्द्रों, सूरत, अहमदाबाद व बड़ौदा ने सम्मेलन के स्वागत समारोह की मेजबानी की। समारोह स्थल एक गुजराती ग्राम में परिवर्तित हो गया था। यद्यपि हम सभी एक ही सिद्धयोग परिवार के सदस्य हैं, तथापि बहुत दूर-दूर रहने के कारण हम एक दूसरे को जानते भी नहीं थे। इस समारोह में हमें ऐसा सुअवसर मिला कि हम सभी एक दूसरे के सम्पर्क में आये और सभी के साथ परिचय प्राप्त किया। सो, यह कार्यक्रम एक प्रकार से विस्तृत समुदाय के पुनर्मिलन का द्योतक रहा।

इस बार का सम्मेलन गुरुमाईजी द्वारा अपने जन्म दिन पर दिये प्रवचन पर आधारित था। इसका केन्द्रण था गुरुमाईजी के ये शब्द, *"इस नश्वर देह में शाश्वत भगवान निवास करते हैं।"* इसमें हम प्रवचन के कुछ अंश सुनते थे, उस पर मनन-चिन्तन करते थे और फिर किस प्रकार हम उन शब्दों का अपने जीवन में अनुशीलन करें, सामूहिक ज्ञान द्वारा यह सीखते थे।

एक गुरुकुलवासी ने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा कि पहले

भगवान के विषय में मेरी अनेक धारणाएँ थीं। किन्तु इस सम्मेलन ने मुझे ऐसी दृष्टि प्रदान की कि मैं अब हर क्षण और हरेक घटना में उनकी उपस्थिति अनुभव कर पा रहा था। मैंने यह जाना कि भगवान शक्ति के रूप में, आनन्द के रूप में, प्रशान्ति के रूप में, तृप्ति के रूप में और ज्ञान के रूप में सतत मेरे समक्ष उपस्थित हैं। अब यह मुझ पर निर्भर है कि मैं या तो भगवान का अनुभव करूँ अथवा उसे नकार कर भ्रम में पड़ा रहूँ।"

एक सत्र में एक वक्ता ने इस बात पर प्रकाश डाला कि कई बार हम विषम परिस्थितियों के आने से अपने जीवन में कृपा का अनुभव नहीं कर पाते। क्यों? एक युवा प्रतिभागी ने बताया "जब मैं इस पर चिन्तन कर रहा था तो मैंने पाया कि केवल उस समय में मैं कृपा की अनुभूति नहीं कर पाता हूँ, जब मैं किसी भी कार्य के मनोवाञ्छित परिणाम की अपेक्षा रखता हूँ। मैंने यह समझा कि अपेक्षा के होने से कृपा का अनुभव लुप्त हो जाता है। और मैंने यह निश्चय किया है कि अब मैं किसी भी कार्य या घटना के परिणाम की अपेक्षा नहीं रखूँगा, जो भी होगा, उसी में सन्तुष्ट रहूँगा।"

एक अन्य ने बताया, "मेरे लिए यह सम्मेलन वरदान सिद्ध हुआ। यह एक प्रकार का विस्तृत ध्यानशिविर ही था। अपनी अन्तरात्मा की खोज में और गहरा उतरने के लिए इससे कई महत्त्वपूर्ण तकनीकें मुझे मिलीं। अनेकों बार मैं सत्य की प्रगाढ़ अनुभूति कर पा रहा था।"

बहुत-से भक्तों ने कहा कि वे जब सम्मेलन में भाग लेने आये थे, तो और कुछ थे किन्तु सम्मेलन के पूर्ण होने के बाद वे एकदम बदल चुके हैं। उनका सब कुछ बदल चुका है, जीवन और प्राथमिकताएँ।

श्रीगुरुदेव सिद्धपीठ में गुरुपूर्णिमा — गुरुपूर्णिमा श्रीगुरु को अर्पित महोत्सव है। पौराणिक कथा के अनुसार इस महोत्सव का आरम्भ महर्षि वेदव्यास के शिष्यों ने किया। वेदव्यास के ज्ञान से अभिभूत शिष्यों के हृदय कृतज्ञता से भर गये और वे सोचने लगे कि उन्हें अवश्य ही श्रीगुरु को कुछ अर्पित करना चाहिए। जिस दिन उन शिष्यों ने अपनी कृतज्ञता अपने गुरु महर्षि वेदव्यास को अर्पित की उस दिन आषाढ़ की पूर्णिमा थी, जो उस दिन के बाद से गुरुपूर्णिमा के नाम से जानी जाती है।

सिद्धयोग ध्यान में श्रीगुरु की महिमा अपरम्पार है। एक बार गुरुपूर्णिमा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए गुरुमाईजी ने कहा, *"आज गुरुपूर्णिमा है, वर्ष की सर्वाधिक जाज्वल्यमान रात्रि। आज हम आदिगुरु भगवान शिव को अपना प्रणाम अर्पित करते हैं। हम उन महान सद्गुणों की परम्परा का सन्मान करते हैं, जो शक्तिपात द्वारा हमारी सुप्त अन्तर-शक्ति कुण्डलिनी को जगा देते हैं। गुरुपूर्णिमा वह पुण्य पर्व है, जब हम इस महान परम्परा के सिद्धों को अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं।"*

इस बार गुरुदेव सिद्धपीठ में गुरुपूर्णिमा के महोत्सव का श्रीगणेश *'ॐ नमः शिवाय'* के तीन दिवसीय अखण्ड नाम-सप्ताह से हुआ। हमने राग 'मेघ-मल्हार' में, जो कि वर्षा ऋतु को समर्पित है, सिद्धयोग के महामन्त्र, ॐ नमः शिवाय को गाया। यह एक अनुपम अवसर था अपने आपको आनन्द में सराबोर करने का। प्रकृति भी इस महोत्सव में आनन्द मना रही थी। कभी धूप खिल उठती थी तो कभी झूम के वर्षा होने लगती थी।

गुरुपूर्णिमा का पावनतम समय था, ४ से ५ बज कर ३० मिनट तक। इस पावन बेला में हमने अपने परात्पर आदि गुरु, जो शिव का स्वरूप ही हैं, भगवान नित्यानन्द का रुद्राभिषेक किया। ब्राह्मण-वृन्द के साथ इस बार गुरुकुल के कुछ विद्यार्थी भी अभिषेक में श्रीरुद्रम् का पाठ कर रहे थे, जिसे देख कर बड़ी ही नैसर्गिकता का अनुभव हो रहा था।

गुरुकुल का हृदयंस्थल, नित्यानन्द मन्दिर, बाबाजी का समाधि मन्दिर और गुरुचौक, सुरभित पुष्पों से सुसज्जित किया गया था। बाबाजी की समाधि पर शुभ्र मोगरा, जूही, गुलछड़ी और शुभ्र गुलाब के पुष्प एक मनोहारी चन्द्रमा को प्रतिभासित कर रहे थे। गुरुचन्द्र, जिसे गुरुमाईजी बाबाचन्द्र कहती हैं, हम सभी को वरदान देने के लिए समाधि में उपस्थित था।

प्रातः ८.३० बजे नाम-सप्ताह की पूर्णाहुति आरम्भ हुई। इसमें हमने *मुक्तानन्द महान* और *ॐ गुरु ॐ गुरु ॐ गुरुदेव, जय गुरु जय गुरु जय गुरुदेव,* धुनें गायीं। श्रीगुरु की उपस्थिति में, श्रीगुरु को पुकारना और वह भी उनके प्रिय गुरु के नाम द्वारा कितना अद्भुत होता है, यह उस समय स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। सभी परम आनन्द में डूबे हुए थे। सभी आह्लादित थे और गा रहे थे, मेरे बाबा महान, मेरे बाबा महान! . . . ज्योत से ज्योत जगाओ आरती गा कर पूर्णाहुति सम्पन्न हुई।

उसके बाद आश्रम की भजन मण्डली ने बड़ी अद्भुत और मनोहारी रीति से शिव ताण्डव का गायन किया। *जटाटवीगलज्जल प्रवाहपावितस्थले* ...यह स्तोत्र भगवान शिव की ऐसी स्तुति है, जिसे सुन कर वे नृत्य करने लगते हैं। *शिव ताण्डव* में डमरू, मृदंग, पखावज, ढप, नूपुर, मञ्जीरे एवं अन्यान्य बहुत-से वाद्य बज रहे थे॥ ऐसा अनुभव हो रहा था मानों साक्षात् भगवान शिव ताण्डव नृत्य कर रहे हों और सारा ब्रह्माण्ड उनके साथ झूम उठा हो।

भजन मण्डली में से एक साधिका ने अपना अनुभव सुनाते हुए कहा, "इसे तैयार करने में श्रीगुरु का संकल्प हमारे साथ था, इसका मुझे अनुभव हो रहा था। एक दिन मैं एक पद गाते हुए चल रही थी और अचानक मैं चुटकी बजाने लगी, जिसे हमने बाद में स्तोत्र के साथ समाहित किया। जब हम गा रहे थे तो मैंने

ऐसी धारणा की थी कि आदि शिव हिमाच्छादित कैलाश पर रहते हैं, जहाँ का वातावरण बिल्कुल शान्त है। और तभी उनके भक्त, उनके गण, भूत-पिशाच आदि अपने-अपने वाद्य बजाते हुए उनके दर्शन को आते हैं। जैसे-जैसे हम गा रहे थे, तो मैं यह अनुभव कर रही थी कि हम एक-एक स्तर ऊपर चढ़ते जा रहे हैं। अन्त में जब हम शिवम् शिवम् गा रहे थे, तो ऐसा लग रहा था मानों हम भगवान शिव के सम्मुख खड़े हैं और वे हमें प्रेम और आशीर्वाद दे रहे हैं। मेरी पूरी सत्ता शक्ति के तीव्र स्पन्दनों से झंकृत हो उठी थी। हृदय तेजी से धड़क रहा था।"

और जब हम इस स्तुति का गायन सुन रहे थे, तो वास्तव में गुरुचौक में बैठे हम सब भौतिकरूप से तो नृत्य नहीं कर रहे थे किन्तु सभी के हृदय आनन्द और मस्ती में झूम रहे थे।

तत्पश्चात् पूज्य श्री भाऊ काका ने सिद्धयोग के सभी भक्तों और शिष्यों की ओर से श्रीगुरुचरणों का पूजन किया। श्रीगुरु के चरण-कमल शिव और शक्ति का प्रतीक हैं। शिव, जो आदि गुरु हैं और शक्ति, जो सभी कुछ को प्रकट करनेवाली हैं, सभी की अधिष्ठाता हैं। अतः उनका पूजन करके वास्तव में हमने शिव और शक्ति की पूजा की।

श्रीगुरु हमें कितना कुछ देते हैं। हम उनका ऋण कैसे चुका सकते हैं? हाँ हम यह अवश्य कर सकते हैं कि जैसे हमारे श्रीगुरु अपने गुरु का ऋण चुका रहे हैं अर्थात् उनके बताये मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, उनकी शिक्षाओं का अनुशीलन कर रहे हैं, वैसे ही हम भी श्रीगुरु के बताये मार्ग पर चलें, उनकी सिखावनियों को जियें। गुरुपूर्णिमा के अवसर पर दिये प्रवचन में गुरुमाईजी ने कहा, *"श्रीगुरु की सिखावनियाँ जीवात्मा को ऊँचा उठाती हैं; हमें इन सिखावनियों को अपने दैनिक जीवन में उतारना चाहिए।"*

गुरुमाईजी के निम्नलिखित शब्द न केवल हमारी साधना को सम्बल प्रदान करते हैं वरन् वे हमें एक आश्वासन भी देते हैं कि गुरुकृपा से सबकुछ सम्भव है। श्रीगुरुमाई कहती हैं, *"आपके अन्दर चाहे कितने प्रतिरोध क्यों न हों, कितनी बाधाएँ क्यों न हों, यदि आप सच्चे जिज्ञासु हैं, तो आप गुरुकृपा से निश्चित ही सत्य को पायेंगे।"*

—प्रह्लाद चौधरी

Licence No. 3 Licenced to post without prepayment

Regd.No. L2/NP/TNW/20/91 NEELESHWARI

शैवमत सिखाता है,
जिस हर्ष का अनुभव तुम्हें
लोगों के बीच रहने से होता है,
जिस हर्ष का अनुभव तुम्हें
एक समुदाय में रहने से होता है,
वह समाधि का अनुभव है।

—बाबा मुक्तानन्द

वर्ष १३ — अंक ९

मूल्य ८ रुपये